विश्व धर्म की रूप-रेखा
Vishva Dharma Ki Rupa Rekha

लेखक

क्षु. श्री पार्श्वकीर्ति वर्णी

प्रकाशक

आर्जव तीर्थ एवं जीव संरक्षण ट्रस्ट, भोपाल

पुस्तक का नाम	:	विश्व धर्म की रूप-रेखा
लेखक	:	क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्ति वर्णी
संस्करण	:	छटवाँ
पावन प्रेरणा	:	आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज
पावन संदर्भ	:	अखिल भारतीय राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी 19, 20 सितंबर 2025 उदयनगर, इंदौर (म. प्र.)
प्रकाशित प्रतियां	:	1000
प्रकाशक	:	आर्जव-तीर्थ एवं जीव संरक्षण-ट्रस्ट 4, लार्ड्स कैम्पस, लक्ष्मी परिसर, नहर के पास बावड़ियाकलाँ, भोपाल-462039 मो. : 7049004653, 9425011357, 9425601161, 9425601832, 7222963457 Website : aarjavvani@gmail.com
पुण्यार्जक	:	• श्री चन्दप्रभु महिला परिषद उदय नगर, इंदौर • श्रीमती निर्मला-पी.सी. जैन इंदौर • श्रीमती रुचि जैन, उदय नगर, इंदौर • श्रीमती सुनीता कामर्शियल इंदौर • जीतमल जैन, जयकीर्ति जैन, श्रीमती बिंदु जैन, दिशा जैन कोलार, भोपाल
प्रकाशन	:	पारस प्रिंटर्स, 207/जी-10, साईं बाबा कांप्लेक्स, जोन-1, एम.पी. नगर,भोपाल फोन : 0755-2574879, 9826240876

प्रस्तावना
FIRST EDITION

आत्मा के उद्धार का जो अमोघ साधन है, उसका नाम धर्म है। आत्मा का विकास तथा उत्थान धर्म के द्वारा होता है और समस्त दुःखों का क्षय भी धर्म के द्वारा होता है, अतः इस जगत में इस जीव के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु धर्म है।

उस धर्म की रूप-रेखा क्या है? और उसका उद्गम कब किसके द्वारा हुआ? यह बात प्रत्येक व्यक्ति को जान लेना परम आवश्यक है। परन्तु प्रायः जनता इस आवश्यक बात से अनभिज्ञ है। अतः जनसाधारण को ऐसे धर्म का, जो कि कुछ एक जनसमुदाय का ही नहीं अपितु जगत के जीव मात्र का हितकारक हो, दिग्दर्शन कराना तथा उसके आदि-प्रवर्तक (धर्म-उपदेष्टा) का परिचय कराना बहुत आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन इसी दिशा में एक शुभ प्रयास है।

भरत खण्ड में जब कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ, तब आज से करोड़ों वर्ष पहले युगप्रधान, महाज्ञानी, विश्व हितैषी भगवान ऋषभनाथ हुए, उन्होंने अपने ज्ञान तथा लोकहितकारिणी भावना से जनता को समस्त कलाओं का एवं अंक-अक्षर विद्या का परिज्ञान कराया। समस्त जनता को जीवन-निर्वाह के साधन बताकर लौकिक तथा राजनैतिक सुव्यवस्था की। तत्पश्चात उन्होंने तपस्या करके स्वयं सर्वज्ञ वीतराग पद प्राप्त किया और समस्त जनता को अजर अमर परमात्मा बनने के

साधनभूत धर्म का पथ-प्रदर्शन किया।

उन ही भगवान ऋषभदेव का वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में भी आदर के साथ उल्लेख किया गया है, उन्हें आदि-पुरुष बतलाया है।

उन विश्ववन्द्य भ. ऋषभनाथ का तथा उनके निरूपित विश्वधर्म का एवं समस्त वाद विवादों को दूर करने वाले स्याद्वाद सिद्धांत का भी संक्षिप्त किन्तु सुन्दर, सरल विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। भारत की प्राचीन भाषा कौन सी है, भाषाओं का क्रमिक विकास कैसे हुआ? इस विषय पर भी पुस्तक में प्रकाश डाला गया है।

समस्त सदाचारों का मूल और चर-अचर प्राणियों को सुख शान्ति प्रदान करने वाला अहिंसा धर्म है। अहिंसा के आचरण से ही संसार का बैर विरोध, दुःख, क्लेश, भय, शंका, व्याकुलता दूर होती है, विश्व-प्रेम स्थापित होता है। अहिंसा के प्रभाव से सिंह, बाघ, सर्प आदि क्रूर जीव भी क्रूरता छोड़ देते हैं। समस्त जगत यदि अहिंसा का आचरण करने लगे तो तो अशान्ति का कहीं भी नाम-निशान न रहे।

स्याद्वाद मानवीय हृदय में वह सरस धारा प्रवाहित करता है जिसमें पारस्परिक बौद्धिक विवाद बहकर विलीन हो जाता है और तथ्य स्वच्छ तात्विक बोध प्रकट होता है।

इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके भगवान ऋषभनाथ ने या उनके प्रतिष्ठापित जैन धर्म ने जगत का महान कल्याण किया है।

इन बातों के विवेचन से यह छोटी-सी पुस्तक बहुत कुछ प्रमेय प्रदान करती है। पूज्य क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्तिजी वर्णी अपने प्रयास में अच्छे सफल हुए हैं। आपकी मातृभाषा मराठी तथा कन्नड़ी है फिर भी आपने यह पुस्तक अच्छी सरल सुन्दर हिन्दी भाषा में लिखी है।

पूज्य क्षुल्लकजी अच्छे सच्चरित्र, प्रभावशाली, मधुर भाषी, आध्यात्मिक वक्ता भी हैं। आपका प्रवचन अच्छा आकर्षक होता है। इस तरह आप वक्ता और लेखक दोनों ही हैं। स्वात्म साधन के सिवाय पर–हित–साधन की जो सद्भावना आपके हृदय में केन्द्रीभूत है, उसकी झलक आपकी लेखनी और शास्त्र प्रवचन में होती है।

आशा है, आपके इस प्रयास से जनता अच्छा लाभ प्राप्त करेगी।

परमानन्द शास्त्री

जैन साहित्य सदन, चान्दनी चौक, दिल्ली

अपनी भावना

श्री श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी सेवादल
कुंदकुंद नगर, तमिलनाडु
की अंग्रेजी प्रस्तावना से

मानव की और आत्मा की पवित्रता एवं जीवन के सर्वोच्च विकास में धर्म एक नींव का पत्थर है। धर्म का अर्थ वस्तु का स्वभाव है। आत्मा की प्रकृति या स्वभाव धर्म है, किन्तु जब तक आत्मा शरीर में ठहरती है तब तक अशुद्ध कर्म वर्गणाओं के संयोग से यह आत्मा दूषित होती रहती है। जो प्रक्रिया अनादि काल से चल रही है। जिन भगवान या तीर्थंकर जिनकी आत्मा उत्तम ध्यान द्वारा कर्मों को जलाने से शुद्ध हो चुकी है उनके द्वारा उपदेश दिया गया है कि धर्म को कैसे जानना एवं पालन करना चाहिए। वह धर्म कैसा है ? धर्म का स्वरूप क्या है ? इत्यादिक रूप से धर्म की महिमा इस उपयोगी अमूल्य छोटी सी पुस्तक में दी गई है। इस पुस्तक के लेखक क्षुल्लक श्री पार्श्वकीर्ति वर्णी जी ने पुस्तक का नाम ''विश्व धर्म की रूप-रेखा'' देकर धर्म का स्वरूप एवं उसका मर्म समझाया है।

जैन धर्म के अनुसार सम्पूर्ण जगत्-अनादि निधन है, आदि तथा अन्त रहित है। किन्तु इसमें परिवर्तन प्रत्येक समय निर्वाध रूप से होता रहता है। इस पुस्तक में भोगभूमि से कर्मभूमि काल परिवर्तन का विवरण भी वर्णित किया है। केवल कर्मभूमि में तीर्थंकर जन्म लेते हैं। उनके जन्म के पूर्व से ही उनके पिता मनु कुलकर प्रजाजनों को खाद्यान्न उत्पन्न करने, भोजन, कपड़े और मकान निर्माण आदि सिखाते हैं।

तीर्थंकर सभी को धर्म सिखलाते हैं जो कि संसारचक्र से निकलकर मोक्षपद प्राप्त करने हेतु मोक्षमार्ग पर चलना कहलाता है।

वर्तमान में काल चक्र में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ हैं। लेखक द्वारा अनेक संदर्भों में ऐतिहासिक तथ्यों एवं ग्रन्थों से पुष्टि की गई है कि वैदिक काल के पूर्व से ही तीर्थंकर परम्पराएं रहीं हैं। लेखक द्वारा वेदों में कई संदर्भों के अन्तर्गत वृषभनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर का नामोल्लेख बढ़ी श्रद्धा से लिया गया है। ऐसा स्पष्ट बतलाया है कि वैदिकजन भी तीर्थंकरों को ऐतिहासिक पुरुष जानते थे। तीर्थंकरों की जैन परम्परा पर चांद लगाते हुए वृषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

लेखक ने अनेक स्थानों पर तीर्थंकरों की प्रशंसा, दिगंबर श्रमणों की जीवन चर्चा, उनकी महान तपस्या, केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्ति का भी संक्षिप्त उल्लेख किया है।

लेखक ने बुद्ध का अहिंसामय जीवन एवं बौद्ध साहित्य का उल्लेख कर उन्हें भगवान महावीर के समकालीन होने का वर्णन किया है। इन सभी संदर्भों के कारण जैन परम्पराओं को ऐतिहासिक दर्शाते हुए तथा जैन धर्म को प्रचार-प्रसार और आचरण में लाने से भविष्य की उज्ज्वलता का प्रतीक माना है। लेखक ने विष्णु, ब्रह्मा, शिव, भारत आदि रोचक शब्दों की व्युत्पत्ति का वर्णन भी किया है एवं प्राकृत भाषा को अत्याधिक प्राचीन एवं सभी भाषाओं की जननी दर्शाया है। लेखक ने अनेकांत, स्याद्वाद, सप्तभंगी, अहिंसा, शाकाहार की बड़ी सारगर्भित चर्चा की है इस पुस्तक का अनुवाद परम पूज्य आचार्य 108 आर्जवसागर जी महाराज के आशीर्वाद से कन्नड़ एवं तमिल भाषा में भी

किया गया। तमिल भाषा में प्रकाशन श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी सेवादल, कुंदकुंद नगर, तमिलनाडु द्वारा किया गया। पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागर जी के आशीर्वाद द्वारा आरनी चातुर्मास पर इस पुस्तक का पुनः हिन्दी प्रकाशन आरती के उत्तरप्रांतीय जैन धर्म बंधुओं के निवेदन पर परम उत्साह पूर्ण भावना के साथ करवाया गया। यह पुस्तक विश्व के सभी धर्मों के अनुसंधान/शोध कार्यों हेतु एवं सामान्य धर्म बंधुजनों द्वारा सरलतापूर्वक पठनीय और अनुकरणीय है।

****

जिस तरह परम पूज्य गुरूदेव श्री 108 आर्जवसागर जी महाराज के तेरह वर्ष के दक्षिण प्रवास पर तमिलनाडु वालों ने गुरूदेव की प्रेरणा एवं आशीर्वाद पूर्वक इस ''विश्वधर्म की रूपरेखा'' कृति का दूसरा प्रकाशन करवाया था उसी तरह गुरूदेव श्री के वर्ष 2004 में हुए टी.टी. नगर भोपाल के चातुर्मास के दौरान इस कृति की अति आवश्यकता को देखकर गुरूदेव ने इस कृति के प्रकाशन का आशीष दे हमें अनुगृहीत किया था और फिर पुनः पुस्तकों के अभाव हो जाने के कारण करमाला (महाराष्ट्र) के श्रेष्ठी श्रीमान सेठ रमणलाल, भाई चंद दोशी की ओर से यह चतुर्थ संस्करण आप तक पहुँचाने में गुरूदेव का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। अब पुनः पुस्तकों की आवश्यकता और उपयोगिता को अमल में लाने के लिये गुरूदेव का आशीर्वाद इस षष्ठम संस्करण के लिये प्राप्त हुआ। इसके लिए हम मुनिश्री के प्रति श्रद्धावनत हैं। यह कृति विश्व के सभी धर्मों की तुलना करने के उपरांत जैन धर्म को श्रेष्ठ धर्म के रूप में ऐतिहासिकता के साथ निरूपित करती है। उक्त कृति सामान्य मानव के

मानस में मानवीय चेतना जगा सके इसी शुभ भावना के साथ 'भगवान महावीर आचरण संस्था समिति' पाठकों को यह बेजोड़ कृति सौंपता है।

इसी के साथ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में अपना आर्थिक सहयोग दिया तथा टाइपिंग प्रूफ रीडिंग और प्रिंटिंग का बड़ी लगन के साथ कार्य किया ऐसे वे सभी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में गुरूदेव के चरणों में बारम्बार नमोस्तु करते हुये आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र।

आर्जव तीर्थ एवं जीव संरक्षण, भोपाल

निम्न व्यक्ति को, निम्न ही भाता।
उच्च आचरण, नहीं सुहाता ॥

श्वान को कितना,
खिलायें मिष्ठा।
प्रकृति न बदले,
भाये विष्ठा ॥

अन्याय करते,
भय न लेश हो।
जिसकी लाठी,
उसकी भैंस हो ॥

–सदाचार सूक्ति काव्य
(आचार्य आर्जवसागर)

जगत् हितंकर जैन धर्म

आचार्यश्री आर्जवसागर जी

श्रीमत् परम गम्भीर स्याद्वादमोघ लाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिन शासनम्।।

(अ.भ.)

अनाद्यनिधन इस संसार में संसारी आत्मा अनादि काल से सुख दुःख का वेदन करती हुई बीज वृक्ष की परम्परा के सादृश्य विधिफल के अनुसार चतुर्गति के भ्रमण में संलग्न है और इस संसार चक्र से अतीत आत्मा की एक अवस्था है जो है मोक्ष। जैसे कि बीज पहले या वृक्ष पहले ? इस समाधान से अनिर्णीत वृक्ष, बीज की परम्परा अनादि से है लेकिन अन्त सहित है। अगर ऐसे बीज को जलाकर भस्म कर दिया जाय तो उस जले बीज से वृक्ष की उत्पत्ति नहीं, अन्त हो जाने पर संसार भ्रमण की या पुनर्जन्म की परम्परा का अन्त हो जाता है। वह आत्मा दुग्ध की अन्तिम अवस्था घृत के समान परम विशुद्ध बन सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लोक शिखर पर स्थित सिद्धशिला पर सिद्ध परमेष्ठी के रूप में अनन्त काल के लिए विराजमान हो जाती है। इस प्रकार संसार चक्र से निकलकर मोक्ष अवस्था को प्राप्त होने में धर्म पुरुषार्थ ही परम सहायक माना गया है। अतः पूर्वाचार्यों ने कहा है कि सकल संसारी जीवों को जो इस संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में रखने की सामर्थ्य रखता है वह जगत हितंकर जैन धर्म है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि

देशयामि समीचीनं, धर्म-कर्म निवर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥

र.क.श्रा.

अर्थ- मैं उस श्रेष्ठ धर्म का कथन करता हूँ जो कर्म (पापादिक) का नाश करने वाला है एवं संसार दुःख से जीवों को उठाकर स्वर्ग, मोक्ष के उत्तम सुख में रख देता है।

विश्व धर्म की आधार शिला : अहिंसा

संसार में धर्म नाम से कहे जाने वाले जितने भी संप्रदाय हैं उन सभी में अहिंसा की प्रमुखता है, जिस दृष्टि या अपेक्षा से सभी धर्मों में समानता ठहरती है।

अहिंसा को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे–दया, अनुकम्पा, अभयदान, वात्सल्य, करुणा, रहम, परोपकार, उपग्रह, क्षमा और जीव रक्षण इत्यादि।

उपर्युक्त शब्दों में बाह्य शाब्दिक दृष्टि से कुछ भेद होते हुए भी सभी का अन्तरंग समान है। सभी का भाव जीवों को कष्ट से बचाकर सुख प्रदान करना है।

अहिंसा; धर्म का प्राण है। जैसे–प्राण के बिना प्राणी का जीवन नहीं, नींव के बिना इमारत नहीं, और जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता वैसे ही अहिंसा, दया के बिना धर्म रूपी महल या वृक्ष नहीं ठहर सकता अतः आचार्यों की, महापुरुषों की उद्घोष पूर्ण वाणी है कि –

'धर्मस्य मूलं दया'

'धम्मो दया विशुद्धो'

दया, धर्म का मूल है। धर्म दया से विशुद्ध है। अतएव जहाँ अहिंसा या दया नहीं वहाँ धर्म की शुरुआत ही नहीं, अहिंसा के बिना धर्म का कथन कागज पुष्प के समान धर्म शब्द की नकल मात्र है। अतः निष्कर्ष यही है कि 'अहिंसा परमो धर्म' अहिंसा ही परम उत्कृष्ट धर्म है।

कथनी करनी एक समान

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने जैसा कथन किया है वैसा ही धर्मानुसार आचरण भी किया है। जीवात्मा का कर्तव्य क्या है – 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (त.सू. 5/21) अर्थात् परस्पर (एक दूसरे) में एक दूसरे का

उपकार करना प्राणी मात्र का धर्म है। इसी तरह अहिंसा का धर्म से गहरा सम्बन्ध बतलाते हुये महाभारत में कहा गया है कि–

मद्य मांसाशन रात्रौ भोजनं कंद भक्षणं।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थ यात्रा जपस्तपः ।।

अर्थात् – जो शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, कंदमूल का भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थ यात्रा, जप, तप करना सब व्यर्थ है।
रामायण में भी कहा गया है कि–

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं, भक्त मश्नाति केवलं ।।

(सुन्दर काण्ड 36/41)

अर्थात् –वे राघव वंशी (राम) कभी मांस सेवन नहीं करते, और न ही मधु (शहद) का सेवन करते हैं। वे तो शुद्ध शाकाहार भोजन करते हुए जंगल में विचरण करते हैं। धन्य है ऐसा महापुरुषों का जीवन; जो मांस खाना तो दूर, घास पर चलने में तथा ऐसे वचनों में भी हिंसा समझते हैं जिनसे किसी आत्मा के मन को कष्ट पहुँचे। वे मुनि मार्ग में ध्यान की प्रसिद्धि हेतु एवं सब तरह की परिग्रह की आशाओं की शान्ति के लिए वस्त्रों का भी त्याग कर देते हैं। इन्हीं महापुरुषों, मुनियों के जीवन को देखकर हमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप उन महान त्याग भावों से उत्तम सीख लेकर अपनी आत्मा को परिशुद्ध बनाना चाहिए। राम ईश्वर आदि महानात्माओं का नाम लेने वालों के मुख से माँस (अण्डा, मछली आदि) का सेवन या जिस मुख से मांस का सेवन उसी अपवित्र मुख से भगवान के नाम लेने में क्या शोभा है? क्या ऐसा करने से अहिंसक देवता लोग प्रसन्न होगे? तो इसका उत्तर 'नहीं' ही मिलेगा इस प्रकार सद्गति का भाजन बनने हेतु अहिंसा धर्म के साथ अपनी कथनी–करनी एक होना ही श्रेयस्कर है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो शाकाहार ही सबसे अधिक शक्तिशाली एवं

सद् भावनाओं का उद्भावक है। लेकिन जिन लोगों की मांसाहार के प्रति ऐसी धारणा है कि इसमें शक्ति अधिक पायी जाती है तो उन्हें सोचना चाहिए कि बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथी, घोड़ा, गाय आदि का भोजन क्या है? वे केवल शाकाहारी हैं। उन्हें केवल पत्तियों और घास का आहार पर्याप्त होता है। उनका जीवन उसी से चलता है। हाथी जैसे वजन को उठाने में अन्य प्राणी सक्षम नहीं हैं, घोड़े जैसी दौड़ में अन्य प्राणी सक्षम नहीं, मोटर की शक्ति (Loin Power) की तुलना घोड़े की शक्ति से (हार्स पावर से) ही करते हैं सिंह आदि की शक्ति से नहीं। ऐसे उन हाथी, घोड़े, आदिक में ऐसी अद्भुत शक्ति कहाँ से आती है ? तो मात्र शाकाहार से आती है। केवल पत्ती और घास खाने मात्र से ही जिनका जीवन शक्तिपूर्ण हो सकता है तो क्या मनुष्य के लिए तरह-तरह के फल, सब्जी, धान्य, मेवा आदिक से भरपूर शक्ति नहीं मिल सकती? अवश्य मिल सकती है। लेकिन फिर भी मांसाहार किया जाना केवल अनार्यपने के साथ जिह्वा की लोलुपता या तामसिक वृत्ति का ही परिचायक है। उसके साथ शुद्ध धार्मिक विचार कैसे आ सकते हैं? पवित्र ध्यान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? और अपने जीवन के लिए अपनी आत्मा जैसी सुख-दुःख संवेदना से धारक दूसरे जीवों के जीवन को समाप्त कर कैसे प्राणी इह-परलोक में शान्ति-सुख से रह सकते हैं? कभी नहीं।

इसके अलावा जब मांसाहारी जीवों से मनुष्य की शारीरिक रचना (दाँत, नख, आँत, पूँछ बिना आदि) ही अलग है तब कैसे यह मांसाहार मनुष्य के योग्य हो सकता है? कभी किसी तरह भी नहीं। अण्डा भी शाकाहार नहीं कहा जा सकता क्योंकि नर-मादा के रज-वीर्य जिसमें हों तथा जिसके अन्दर जीव की (पञ्चेद्रिय जीव की) उत्पत्ति हो ऐसा अण्डा कैसे शाकाहारी हो सकता है किसी तरह भी कदापि नहीं। और भी करुणा की दृष्टि से विचार करें तो एक माँ अपने बच्चे के पैदा होने के पहले से ही भावना भाती है कि बच्चा पैदा होने के बाद हम उसे प्यार से पालेगे पोसेगे लेकिन अण्डे का सेवन कर उसके बाहर

आने के पहले ही उसे समाप्त कर दिया जाय तो उस माँ की हालत क्या होगी ? दु:ख का पार नहीं रहेगा, चाहे वह अण्डे की माँ हो या बच्चे की।

जिन जीवों की, किन्हीं हिंसक या मांस-भक्षी व्यक्तियों की चेष्टाओं द्वारा हिंसा की जाती है उनकी या उनकी जननी (माँ) की आहें हिंसक को सुखी कैसे रहने देंगी? उस हिंसक का वह महा पाप किसी-न-किसी दुर्घटना (एक्सीडेन्ट) आदि या दुर्गति में अंगहीन, लूला, लंगड़े, अंधेपन या दरिद्रपन में महा दु:ख से ही निकलेगा। इसीलिए तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पञ्च पापों में हिंसा को प्रथम बड़ा पाप माना है। लेकिन कोई श्रावक विरोधी हिंसा का त्यागी न हो और उसे कोई मारे तो वह उसके बदले में मारने वाले को (स्व द्रव्य या धर्म रक्षा के भाव से) मारे तो बड़ा पाप नहीं माना जैसे दुराचारी रावण का मारा जाना। लेकिन बेकसूर प्राणियों को मारना या उनके मांस का सेवन करना कितनी बड़ी क्रूरता है? क्या इस नादानी से नरक का ही निदान न होगा? किसी अनुभवी पूर्वकवि ने कहा है -

तिल भर मछली खाय के, कोटि गौ दे दान।
काशी करवट ले मरे, तो भी नरक निदान ।।

अत: वृषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों, राम, हनुमान, बुद्ध, अल्लाह, ईश्वर, गाँधी जैसे अनेक अहिंसा के उपासकों-जैसा अहिंसा धर्म, शाकाहार अपने जीवन में लाकर शान्ति और सद्गति का मार्ग अपनाना ही भला होगा।

निर्दोषी परमात्मा का स्वरूप प्रत्येक सम्प्रदाय में उस सम्प्रदाय का कोई-न-कोई उपदेशक अवश्य हुआ है और वह जितना निर्दोषी हो वह उतने ही श्रेष्ठ धर्म के कथन करने की सामर्थ्य युक्त माना गया है। आगम में अठारह दोष गिनाये गये हैं-

छुह तण्ह भीरु रोसो, रागो मोहो चिंता जरारुजा मिच्चू ।
सेदं खेद मदोरइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो।।

आ. कुन्दकुन्द कृत नियमसार गाथा - 6

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग।

उपर्युक्त इन अठारह दोषों से रहित संसार परिभ्रमण से मुक्त अरहंत परमात्मा होते हैं, जो परमात्मा अपनी दिव्यध्वनि द्वारा भव्यात्माओं के लिए हिंसादिक पाप कार्यों से भरे इस संसार से मुक्त होने का उपदेश देते हैं और पुरुषार्थी आत्मा ऐसे उपदेश को सुनकर तदनुसार मोक्षमार्ग पर चलकर एक दिन उन निर्दोषी अरहंत भगवान जैसी उत्तम अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

इस जगत में विश्व हितंकर धर्म का कर्ता सच्चा ईश्वर वही होता है जो भक्त आत्माओं के लिए भी अपने जैसे पद को प्राप्त करा दे। जिस सम्प्रदाय में भक्त तो हमेशा भक्त ही बना रहे और ईश्वर सबका (सृष्टि का) कर्ता, धर्ता आदि बना रहे यह ईश्वरत्व नकारने वाली बात ईश्वरत्व के प्रति आस्तिकता की सूचक न होकर नास्तिकता की ही कोटी में आ जाती है।

ईश्वर धन, वैभव पुत्रादिक देने वाला सुख का कर्ता है। कभी वही ईश्वर रोग, शोक, दुःख दरिद्रता देने वाला है। ब्रह्मा जगत की सृष्टि करता है। विष्णु जगत का रक्षक है। महेश (रुद्र) सृष्टि का विनाशक है इत्यादि मान्यता यह सब मिथ्या कल्पना है। इसी भाव को तेजो विन्दूपनिषद में भी कहा गया है कि

रक्षको विष्णुरित्यादि, ब्रह्मा सृष्टेस्तुकारणम् ।
संहारे रुद्र इत्येवं, सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।।

ते.वि.उ. 5/52-52

जो कोई देवता, ईश्वर या विष्णु, ब्रह्मा आदिक किसी का अच्छा या बुरा करता है तो वह रागी द्वेषी ठहरा। और राग-द्वेष का करना यह ईश्वरत्व का लक्षण नहीं। क्योंकि राग द्वेष से किसी का अच्छा बुरा करते हुए सांसारिक कार्यों में उलझने वाला स्वयं आत्मिक सुख शान्ति का अनुभव ही नहीं कर सकता। फिर दूसरों को सुखी कैसे करेगा और यदि कहें कि नहीं, जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही ईश्वर उसे सुख-दुःख देता है। तो फिर कर्म बीच में आने

से ईश्वर का कुछ काम ही नहीं रहा। यह कार्य तो कर्म सिद्धान्त पर आधारित हो गया। जैसा जो जीव कर्म (पुण्य-पाप) करता है वैसा सुख-दुःख स्वयमेव पाता चला जाता है। जहाँ जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही (ऊँचे नीचे प्रकार का) फल या धान्य वहाँ प्राप्त किया जाता है। अगर स्वयं पुण्य किये बिना दूसरा कोई कुछ देने लग जाय एवं पाप किये बिना कोई कुछ हड़पने लग जाय तो स्वयं के द्वारा पूर्व में किया गया कर्म (पुण्य-पाप) निरर्थक हो जाय। जबकि ऐसा कभी नहीं होता। निज कृत कर्मानुसार ही फल होता है जैसा कि पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट कहा ही है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।।

– आचार्य अमितगति मुनि विरचित द्वात्रिंशतिका

अतः कर्ता धर्ता रूप मिथ्या भावों मान्यताओं को छोड़कर सच्चे मोक्ष सुख की प्राप्ति हेतु वीतराग अर्हन्त के मार्गानुगामी बनकर, धर्म, मोक्ष, पुरुषार्थ में संलग्न होना चाहिए।

अनेकान्त मय जैन धर्म

संसार की प्रत्येक वस्तु अनेक गुण धर्मात्मक मानी गयी है जिस कारण उसमें अनेकान्त धर्म की सिद्धि होती है जैसे कि कहा ही है 'अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन स अनेकान्तः'।

अनेक गुण धर्मों को अपनी अपेक्षानुसार अर्पित-अनर्पित (मुख्य गौण) करके स्वीकार करना ही स्याद्वाद धर्म कहलाता है। जैसे एक व्यक्ति एक पुत्र की अपेक्षा पिता है तो भाई की अपेक्षा भ्राता भी, पत्नी की अपेक्षा पति भी और पिता की अपेक्षा बेटा भी है इत्यादि। इसी तरह एक वस्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा

शाश्वत है, तो पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत भी है और अपेक्षा स्वीकारे बिना हर जगह एक व्यक्ति को पिता रूप या बेटा रूप ही मानना या वस्तु को केवल ध्रौव्य रूप या नाशवान ही मानना एकान्त है। जो कि मिथ्या है। अतः अपेक्षा सहित वस्तु में अनेक धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है। स्याद्वाद का अर्थ है कथंचितवाद जिसे अपेक्षावाद या सापेक्षवाद भी कहा जाता है।

उपर्युक्त अनेकान्त स्याद्वाद धर्म अर्पित अनर्पित की अपेक्षा वस्तु में अनेक धर्मों की सिद्धि करता है। जहाँ बेटा की अपेक्षा पिता पर्याय अर्पित (मुख्य) है वहाँ दूसरी भाई पर्याय अनर्पित (अमुख्य या गौण) होती है। इसी तरह आत्मा के ज्ञान गुण की अपेक्षा जहाँ जानने योग्य पर्याय मुख्य होती है वहाँ देखने योग्य कार्य या पर्याय गौण है इत्यादि। एक अवस्था की मुख्यता होने से दूसरी पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं लेकिन दूसरी पर्याय उस समय छुपी हुई होती है।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ''अर्पिता नर्पित सिद्धेः'' इस मार्मिक सूत्र से जैन धर्म की यह अनेकान्त स्याद्वादमय शैली सब तरह के विवादों को दूर कर सच्चे पथ को उद्घाटित कर देती है। यही जैन धर्म की विशेषता है। अनेकान्त या स्याद्वाद धर्म का सार यही है कि एकान्त में 'ही' (अकेलापन) है अनेकान्त स्याद्वाद में 'भी' (सामञ्जस्यपन) है 'भी' का पेट बहुत बड़ा है। जिसमें एक वस्तु के सभी वस्तु धर्म गर्भित या समाहित होते हैं। इसी सन्दर्भ में गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित एक पद्य मनन करने योग्य है जो इस प्रकार है–

'ही' से 'भी' की ओर यदि, बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो, विश्व शान्ति का योग।।

तीन के पीछे छह (36) का आँकड़ा अंकों की अपेक्षा से विरोध का प्रतीत होता है तो छह के पीछे तीन (63) का आँकड़ा सहयोग का प्रतीक है एक दूसरे का पूरक है 63 रूप अनेकान्त धर्म का आँकड़ा सभी वस्तु धर्मों के

सामञ्जस्यपने से सहित होने से विश्वशान्ति का कारण होता है।

विभिन्न धर्मों में जैन धर्म

जैन धर्म में अहिंसा और अनेकान्त की प्रधानता होने के कारण इसकी महानता को बड़ा आदर्श रूप मानते हुए प्रायः सभी सम्प्रदायों ने इस जैन धर्म को तथा उसके उपदेष्टा तीर्थंकरों को बड़े गौरव की दृष्टि से देखते हुए अपने-अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्रशंसनीय और स्तुत्य माना है। जैसे कि महाभारत में प्रथम तीर्थंकर की स्तुति में लिखा है कि-

पुनस्तत्रैव सर्वज्ञः सर्वदेव नमस्कृतः ।
छत्रत्रयाति संयुक्तः पूज्यमूर्तिरसौवहन् ।। 1 ।।
परमात्मानमात्मानं लसत्केवल निर्मलम् ।
निरञ्जनं निराकारं ऋषभं तु महेद् वृषभ ।।2 ।।

अर्थात् वृषभ देव सर्वज्ञ थे, सब देवों से नमस्कृत थे, तीन क्षेत्रों में शोभायमान थे और पूज्य मूर्ति थे। निर्मल केवलंज्ञान से सुशोभित थे ऐसे परमात्मा, निरञ्जन निराकार, श्रेष्ठ वृषभ की पूजा करनी चाहिए।

महापुरुष तीर्थंकरों की जन्म भूमि के रूप में देश का नाम भारत कैसे पड़ा इसके सन्दर्भ में मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि -

अग्नीन्ध्र सूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।। 69 ।।
सोऽभिषिंच्यर्षभः पुत्रं महाप्राब्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमशंसयः ।। 40 ।।
हिमाव्हं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ।
तस्मास्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।।41 ।।

अर्थात् - अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ जो कि अपने सौ भाइयों में बड़ा था। ऋषभ देव ने अपने

बड़े पुत्र भरत का राज्य अभिषेक करके स्वयं प्रव्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण की और तप करने लगे। भगवान ऋषभ देव ने भरत को हिमालय पर्वत से दक्षिण का राज्य दिया था, इस कारण उस महात्मा भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इसी तरह अग्नि पुराण में भी लिखा है कि –

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्माद् भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभवत् ।। 12 ।।

अर्थात् – मरुदेवी माँ से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारत वर्ष हुआ।

श्रेष्ठ आराध्य और सम्यग्दर्शन

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः
रूपमुयसदामेततिस्रो रात्रीः सुरासुता ।। 14।।

– यजुर्वेद अ. 19

अर्थात् अतिथि, मास उंपवासी, नग्न मुद्रा धारक भगवान महावीर की उपासना करो जिससे तीन प्रकार के (कुमति, कुश्रुति और कुअवधि रूप) अज्ञान अंधकार रूपी रात्रि पैदा न हो। सम्यग्दर्शन का लक्षण आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढ–मष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।। 4 ।।

(र.श्रा.)

अर्थ – परमार्थ भूत अर्थात् सच्चे देव–शास्त्र, गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इसी तरह आचार्य कुन्द–कुन्द देव कहते हैं कि –

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।। 1।।

– मोक्ष पाहुड।

अर्थ – हिंसा रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव, निर्ग्रन्थ मुनि एवं प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में श्रद्धान करने से (व्यवहार) सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्यात्व का परिहार आवश्यक है। सुगाढ़ मिथ्यात्व को मूढ़ता की कोटि में गिनाते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि

जइ देवो वि य रक्खई, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणंपि मुणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति ।। 25 ।।
एवं पेच्छन्तो विहु, गह भूय पिसायजोइणी जक्खं।
सरणं मण्णई मूढ़ो, सुगाढ़ मिच्छत्त भावादो ।। 27 ।।

अर्थ – यदि मरते हुए मनुष्य की क्षेत्रपालादिक देव, मंत्र और तन्त्रादिक रक्षा करने में समर्थ होते तो यह मनुष्य अक्षय हो जाता। इस तरह संपूर्ण संसार को शरण रहित देखता हुआ यह मूढ़ प्राणी तीव्र (सुगाढ़) मिथ्यात्व के भाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी, चाण्डिका तथा यक्षादि की शरण को मानता है।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्म देव के सादृश यक्ष–यक्षणी आदिक (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषक रूप भवनत्रिक आदिक के) सरागी देवों की अभिषेक पूजा, आरती, स्तुति आदिक करने वालों की होने वाली गति के संबंध में आगम ग्रन्थों में कहते हैं कि –

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
समं पूजा विधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ।। 240 ।।

– यशस्ति तिलक चम्पू (अ. 8)

अर्थ – तीनों जगत (लोकों) को देखने के लिए नेत्र स्वरूप अरहंत देव को तथा व्यन्तरादिक सरागी देवों को जो पूजा विधान में समान देखता नीचे (मानता) है क्या है? वह बहुत दूर नीचे जाता है। क्या है? बहुत दूर नीचे है?

नरक, निगोद ही। जैन धर्म में जैनियों के लिए मोक्षमार्गी भेष या लिंगों का कथन करते हुए कहा गया है कि –

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाणं तइयं चउत्थ पुण लिंग दसणं णत्थि ।। 18 ।।

– दर्शन पाहुड

अर्थात् जिन मत में तीन ही लिंग बतलाये गये हैं। प्रथम लिंग जिनेन्द्र भगवान के रूप में वाला निर्ग्रन्थलिंग, द्वितीय उत्कृष्ट श्रावकों (ऐलक–क्षुल्लक) का लिंग और जघन्य स्थान में स्थित आर्यिकाओं एवं क्षुल्लिकाओं का तृतीय लिंग है। इनके अतिरिक्त कोई चौथा लिंग जिनमत या जिनदर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है (मठाधिपति के भेष का जिनागम में कथन नहीं है।)

सम्यग्दृष्टि जीवों को त्रिमूढ़ताओं से बचने के लिए समीचीन शास्त्रों में कहा गया है कि –

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनाम्।
प्रणामं विनयंचैव न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः।। 30।।

अर्थ – निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह और लोभ से भी कुदेव (सरागीदेव), कुशास्त्र (सरागियों द्वारा कल्पितशास्त्र) कुगुरु (परिग्रही मिथ्यात्वी गुरु) को नमस्कार और विनय भी न करें।

सच्चा दृढ़ धर्मी तो ऐसा विचार करता है कि जिस आत्मा ने हिंसादिक पंच पापों का त्याग नहीं किया उसकी पूजा नमस्कार आदि क्रिया करने से जैसे गन्दे जल में वस्त्र धोये जाने से वस्त्र शुद्ध होने की बजाय अशुद्ध ही होता जायेगा। इसी तरह गंदे दर्पण में मुख देखे जाने से मुख के दाग नहीं दिख सकते और ना मुख को साफ–सुथरा बनाया जा सकता है। वैसे ही जिस उपास्य का जीवन राग–द्वेष, पति–पत्नी, काम वासना की भावना, वस्त्रालंकार और धनादिक के प्रति मोह से मैला कुचेला हो रहा है उसकी उपासना आदिक से

उपासक लोग अपनी आत्मा रूपी कपड़े को या मुख को शुद्ध बनाने की बजाय केवल पाप से ही लेपते चले जाते हैं।

एतदर्थ जगत में समीचीन धर्म मार्ग में दृढ़ होने के लिये और जगत हितकर जैन धर्म का प्रकाश करने के लिए वीतरागियों निर्ग्रन्थों द्वारा रचित सत्साहित्य का पठन कर हठाग्रह छोड़ तद्नुसार आचरण बना कर आत्माएँ अपने बहुमूल्य मानव जीवन को सुख, शान्ति की समृद्धि अनुभूति सह सफल बनावे यही मेरी मंगल भावना है। इत्यलं।

जहाँ स्वार्थी, आदमी देश हो।
पिछड़े संस्कृति, दूषित वेश हो॥

अनेक जाति व, अनेक मत हैं।
अविरोधी जन, देश निरत हैं॥

सुखी रहें सब, शान्त हो प्रजा।
न अन्याय, न मिले ही सजा॥

–सदाचार सूक्ति काव्य
(आचार्य आर्जवसागर)

विषय सूची

1.	कर्मयुग का प्रारम्भ	1
2.	भगवान ऋषभनाथ	3
3.	भरत की दिग्विजय	9
4.	ऐतिहासिक उल्लेख	9
5.	आदि ब्रह्मा	19
6.	शिव रूप	21
6.	बाबा आदम	23
7.	भरत और भारत	24
8.	भगवान मुनिसुव्रतनाथ	27
9.	भगवान नेमिनाथ	29
10.	भगवान पार्श्वनाथ	33
11.	भगवान महावीर	35
12.	महात्मा बुद्ध	38
13.	महात्मा यीशु	47
14.	यहूदी	49
15.	जैन धर्म की प्राचीनता	52
16.	प्राकृत भाषा	59
17.	अनेकान्त	77
18.	सप्तभंगी	83
19.	स्याद्वाद	86
20.	अहिंसा	94
21.	मांस में पोषक तत्व	118
22.	उपसंहार	122

विश्व धर्म की रूपरेखा

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे ।
धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥

कर्मयुग का प्रारम्भ

यह जगत अनादि समय से चला आ रहा है। समय के परिवर्तन से इस जगत में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं। कभी कहीं नगर विध्वस्त होकर वन बन जाते हैं। कभी कोई पृथ्वी का भाग जलमग्न होकर समुद्र या झील बन जाता है और कभी कहीं जलमय प्रदेश स्थल बन जाता है। जलवृष्टि, भूकम्प, विद्युत्पात आदि प्राकृतिक घटनाओं से महान क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं। परन्तु फिर भी जगत में एक परमाणु मात्र की भी न्यूनता या अधिकता (कमी-वेशी) नहीं होती। जगत में जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं वे उतने ही अनंत भूतकाल में थे और वे ही, उतने ही पदार्थ वर्तमान में हैं तथा अनंत भविष्य काल में भी उतने ही रहेंगे। यानी न तो कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है, न कोई पदार्थ सर्वथा नष्ट होता है। हाँ विभिन्न बाहरी कारण पाकर उनकी पर्याय (दशा) बदल जाया करती है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु में तथा जीवों की अवस्था में उलट-फेर हमारे सामने नित्य प्रति हुआ करते हैं।

सारांश यह है कि अनन्तों जड़, चेतन पदार्थ- मय जगत अनादि एवं अनिधन है तथा अकृत्रिम अविनाशी है - जैसे कि जीव हैं। जगत के महान परिवर्तनों के अनुसार जीवों को कभी सुखमय वातावरण मिलता है और कभी सुख-दुःखमय, कभी दुःखमय तथा कभी महादुःखमय परिस्थिति में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जैसे न सदा रात्रि रहती है और न सदा दिन

रहता है, दिन-रात्रि का चक्र चलता रहता है इसी तरह जगत के परिवर्तन से जगत निवासी संसारी जीवों को भी बदलती हुई सुख-दुःखमय परिस्थिति में निर्वाह करना पड़ता है।

अब से असंख्य वर्ष पहले यहाँ महान सुखमय परिस्थिति थी, यहाँ सर्वत्र (जगह-जगह) कल्पवृक्ष होते थे जिनके प्रकाश से सदा दिन का सा प्रकाश बना रहता था, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहन-सहन आदि के पदार्थ उन कल्पवृक्षों से अनायास (बिना कुछ परिश्रम किये) मिल जाया करते थे। किसी भी मनुष्य या पशु-पक्षी को अपने जीवन-निर्वाह के लिये कुछ परिश्रम न करना पड़ता था। उस सुखमय समय को भोगयुग कहते हैं।

किन्तु समय ने पलटा खाया अतः वह भोगयुग समाप्त हो गया- जीवन-निर्वाह की सामग्री देने वाले कल्पवृक्ष स्वयं धीरे धीरे नष्ट-भ्रष्ट होते गये। जैसे कि शीतऋतु के आगमन पर वर्षाकाल के बादल विलीन हो जाते हैं। उस समय जनता के सामने अनेक प्रकार की कठिन समस्याएँ क्रम से आने लगीं। उन विकट समस्याओं को सुलझाने के लिये उस समय क्रम से 14 युगप्रधान नेताओं का अवतार हुआ जिनका नाम मनु या कुलकर प्रसिद्ध हुआ। उनके नाम ये हैं -

1. प्रतिश्रुति, 2. सन्मति, 3. क्षेमंकर, 4. क्षेमन्धर, 5. सीमंकर, 6. सीमन्धर, 7. विमलवाहन, 8. चक्षुष्मान, 9. यशस्वान, 10. अभिचन्द्र, 11. चन्द्राभ, 12. मरुद्देव, 13. प्रसेनजित और 14. नाभिराय।

ये मनु (कुलकर) जनसाधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान थे तथा जनता के परम हितैषी थे। इनके समय मनुष्यों को जो उलझनें आई उन उलझनों को इन मनुओं ने अपने विशेष ज्ञानबल से सुलझाया।

भगवान ऋषभदेव

अंतिम मनु नाभिराय की गुणवती पत्नी मरुदेवी थी। मरुदेवीके गर्भ में एक महान भाग्यशाली, महान तेजस्वी पुत्र आया। उसके पुण्य प्रभाव से नाभिराय के घर स्वर्ग से देवों द्वारा रत्न-वर्षा होती रही। इस कारण जन्म से पहले उस गर्भस्थ शिशु का नाम जनता में हिरण्यगर्भ (सुवर्ण गर्भ वाला) प्रसिद्ध हुआ। जिस समय उस प्रभावशाली पुत्र का जन्म हुआ उस समय भी देवों ने आकर महान उत्सव किया। उसके दाहिने पैर में बैल का चिन्ह था, इस कारण उनका नाम ऋषभनाथ या वृषभनाथ रक्खा गया। (वृषभ का अर्थ बैल है)।

ऋषभनाथ जन्म से ही महान ज्ञानी (अवधिज्ञानी) थे, महान सुन्दर, महान बलवान और महान दयालु तथा पराक्रमी थे। युवा (जवान) हो जाने पर ऋषभनाथ का विवाह नन्दा तथा सुनन्दा नामक दो परम सुन्दरी गुणमयी कन्याओं से हुआ। नन्दा के गर्भ से भरत आदि सौ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक एक पुत्री हुई और सुनन्दा के उदर से बाहुबली नामक महा बलवान एक पुत्र एवं सुन्दरी नामक एक पुत्री का जन्म हुआ।

उस समय जन साधारण को कल्पवृक्षों के न रहने से भोजन वस्त्र आदि जीवन-सामग्री मिलना दुर्लभ हो गया, अतः जनता भूख, सर्दी, गर्मी आदि से बहुत व्याकुल हुई। अपनी कष्ट कथा सुनाने के लिये मनुष्य नाभिराय के पास आये। नाभिराय ने अपने महान ज्ञानी सुपुत्र ऋषभनाथ की ओर संकेत (इशारा) किया। तब भगवान ऋषभनाथ ने अपने ज्ञानबल से लोगों को कृषि (खेती-बाड़ी) करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखलाई। रुई उपजा कर उससे वस्त्र बनाने के उपाय बतलाये। धातुओं तथा मिट्टी से बर्तन बनाने की प्रक्रिया समझायी।

इसके सिवाय मनुष्यों को अस्त्र-शस्त्र (हथियार) चलाना, अनेक प्रकार की शिल्प कला बतलाई, व्यापार करने का ढंग समझाया। जनता को परस्पर सहयोग से रहकर जीवन निर्वाह करने के उपाय बतलाये इत्यादि शिक्षाएँ जनता को देकर उनके कष्ट- कठिनाइयाँ दूर की।

भगवान ऋषभनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को नाट्य कला सिखलाई, बाहुबली को मल्लयुद्ध में निपुण कर दिया। अन्य पुत्रों को राजनीति, युद्धनीति आदि कलाओं को शिक्षा दी।

एक दिन भगवान आदिनाथ निश्चिन्त प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए थे तब उनकी दोनों पुत्रियाँ आकर उनकी गोद में बैठ गईं। ब्रह्मी बाएँ घुटने पर बैठी और सुन्दरी दाहिने घुटने पर बैठी। दोनों पुत्रियों ने मीठी भाषा में कहा कि पिता जी! आपने सबको अनेक विद्याएँ सिखलाई हैं हमें भी कोई अक्षय (अविनाशी) विद्या दीजिये।

भगवान आदिनाथ ने मुस्कराते हुए अपनी पुत्रियों के सिर पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा कि अच्छा बेटी तुम अपना दाहिना हाथ खोल कर निकालो तुमको मैं अक्षय विद्या सिखाता हूँ।

तब ब्राह्मी ने अपना दाहिना हाथ भगवान के सामने कर दिया। भगवान ने अपने दाहिने हाथ के अंगूठे से उनकी हथेली पर अ, इ, आदि 16 स्वर और क, ख, आदि 33 व्यञ्जन एवं 4 योगवाह अक्षर लिखकर उसको अक्षर विद्या या लिपि विद्या सिखलाई। उस पुत्री के नाम से ही उस आद्य लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि जगत में प्रसिद्ध हुआ।

सुन्दरी भगवान के दाहिने घुटने पर बैठी थी, अतः उसकी हथेली पर भगवान ने अपने बाएँ हाथ के अंगूठे से 1, 2, 3 आदि अंक लिख कर

इकाई दहाई सैकड़ा आदि की अंक पद्धति तथा संकलन (जोड़), विकलन (बाकी), गुणा, भाग आदि गणित सिखलाया। बायाँ हाथ होने के कारण उन अंकों के लिखने का क्रम अक्षरों से उलटा 1 (दाहिनी ओर से इकाई आदि के रूप में प्रारम्भ होकर बायीं ओर लिखने की परिपाटी) बतलाया गया। अतः तभी से अंकों के लिखने की पद्धति अक्षरों की अपेक्षा उलटी चल पड़ी।

इस तरह भगवान आदिनाथ ने जगत में कर्मयुग कृषि, शिल्प, विद्या, व्यापार आदि परिश्रम करके जीवन-निर्वाह करने के उपाय की सृष्टि-निर्माण या रचना की। इस कारण उनके नाम आदि-ब्रह्मा, प्रजापति, आदि-विधाता, आदिनाथ, आदीश्वर आदि जगत में विख्यात हुए।

बहुत समय तक भगवान आदिनाथ ने न्यायनीति से राज्य शासन किया। उनके राज्य में किसी भी प्राणी को किसी तरह का कष्ट नहीं था।

एक दिन वे राजसभा में बैठे थे उस समय नीलाञ्जना नामक अप्सरा सभा में नृत्य कर रही थी। नृत्य करते हुए ही उसकी आयु पूर्ण हो गई और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। इस घटना को देखकर भगवान आदिनाथ की विचारधारा बाहरी संसार से हटकर अन्तरंग की ओर आकर्षित हुई।

भगवान ने विचार किया कि यह आत्मा शरीराधीन होकर अपना अमूल्य समय शरीर की सेवा में, इन्द्रियों की इच्छाओं को तृप्त करने में, विषय भोगों के भोगने में व्यतीत कर देता है, यह अपने कल्याण के लिये कुछ नहीं कर पाता। अचानक इसको मुत्यु का अतिथि बनना पड़ता है। मैंने अब तक का अपना दीर्घ जीवन सांसारिक कार्यों में बिताया, अपने ज्ञान और शक्ति का उपयोग मैंने अपने लिये कुछ भी न किया, इस तरह तो मैं

जन्म–मरण के चक्कर से भी न छूट पाऊँगा। अतः नीलांजना ने जैसे अपने जीवन में अपने हित के लिये कुछ न किया और अचानक उसकी मृत्यु हो गई, ऐसी घटना मेरे लिये भी हो सकती है। अतः अब मुझे गृहस्थाश्रम की कीचड़ से बाहर निकल कर आत्म साधना करनी चाहिये।

ऐसा चिन्तन करके भगवान ऋषभनाथ ने अपने बड़े पुत्र भरत को राजसिंहासन पर बिठाकर अपना समस्त राज्यभार तथा गृहस्थाश्रम का भार सौंप दिया। अपने अन्य पुत्रों को थोड़ा–थोड़ा राज्य देकर स्वयं सब कुछ त्याग कर एकान्त शान्त वन में रवाना हो गये, वहाँ पर उन्होंने अपने शरीर के सभी वस्त्र आभूषण उतार दिये और नग्न होकर छह माह का योग लेकर आत्म साधना में बैठ गये।

छह महीने तक एक आसन में बैठे रहे। उस अचल आसन के समय उनके शरीर पर आसपास के सर्प आकर उनके शरीर पर चढ़ते– उतरते रहते थे, गले में लिपटे रहते थे। उनके सिर पर बाल बहुत बढ़ गये थे। उस जटा जूट में वर्षा ऋतु की जलवर्षा का जल भर जाता था और बहुत समय तक उनके सिर से जल की धारा बहती रहती थी। छह मास निराहार रह कर ऐसी कठोर तपस्या करने के पश्चात् जब वे उठे, तो भोजन के लिये निकटवर्ती नगर गाँवों में घूमे किन्तु उस समय वे स्त्री–पुरुष यह नहीं जानते थे कि साधु को भोजन किस तरह कराना चाहिये। भगवान अपने मुख से कुछ बोलते न थे। अतः उन्हें छह मास तक भोजन भी न मिल पाया। इस तरह एक वर्ष निराहार रहकर उन्होंने तपस्या की।

एक वर्ष पीछे हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस के यहाँ उन्हें विधि से आहार मिला। उस समय आपने केवल तीन चुल्लू गन्ने का रस पीकर पारणा की।

तदनन्तर स्त्री–पुरुषों को साधु के भोजन कराने की विधि मालूम हो गई।

भगवान मौन रह कर वन, पर्वत, शमशान भूमि, नदी तट, गुफा आदि एकान्त शान्त स्थानों में विहार करके तपस्या करते रहे। इस तरह एक हजार वर्ष तक कठोर आत्म–साधना करने के बाद उन्होंने आत्म शत्रुओं–काम, क्रोध, मद, मोह, ईर्ष्या, राग–द्वेष, अज्ञान आदि दुर्भावों पर विजय प्राप्त की, संसार–भ्रमण के कारण–भूत घाति–कर्मों पर विजय प्राप्त की। तब वे पूर्ण शुद्ध बुद्ध वीतराग सर्व ज्ञाता–दृष्टा अर्हन्त बन गये। आत्म–शत्रुओं पर विजय पाने के कारण उनका नाम 'जिन' (जीतने वाला) विश्व विख्यात हुआ।

उसी समय उनका मौन–भंग हुआ। उन्होंने जनता को धर्म–उपदेश देना प्रारंभ किया, संसार से मुक्त होने की विधि, जन्म–मरण से छुटकारा पाकर अजर–अमर परमात्मा बनने की प्रक्रिया सबको सरल, सुबोध भाषा में समझाई। इस तरह उन्होंने सबसे प्रथम जो धर्म का प्रचार किया उस धर्म का नाम उनके प्रसिद्ध नाम 'जिन' के अनुसार जैन धर्म (जिनस्य अयं धर्मः जैनधर्मः) जग प्रसिद्ध हुआ।

उनके धर्म–उपदेश से सर्व साधारण को लाभ पहुँचाने के लिये देवों द्वारा एक गोल सुन्दर विशाल सभा मण्डप बनाया गया। उसमें 12 कक्ष बनाये, उन कक्षों में देव देवियाँ, मनुष्य स्त्रियाँ, साधु– साध्वियाँ तथा पशु–पक्षी आदि सभी जीव बैठ कर भगवान का उपदेश सुनते थे। उस समवशरण (सभा मण्डप) के बीच में एक तीन कटनी की वेदी बनी होती थी। उसके ऊपर सिंहासन था, सिंहासन के बीच कमल का फूल बना था, उस कमल पर (उससे 4 अंगुल ऊपर अधर) भगवान विराजमान होते थे।

भगवान का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होता था किन्तु दैवी चमत्कार से उनका मुख चारों दिशाओं में दिखाई देता था। इस कारण जन साधारण उन्हें कमलासन पर विराजमान चतुर्मुखी आदिब्रह्मा भी कहते थे।

भगवान ने आचारांग आदि 12 अंगों का तथा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चार वेदों का उपदेश दिया।

उनके उपदेश का क्रमवार विवेचन या व्याख्या करने वाला पहला गणधर या गणेश उनका ही दीक्षित साधुपुत्र वृषभसेन हुआ। वृषभसेन के बाद 83 गणधर और भी हुए।

इस तरह भगवान ऋषभनाथ ने अपनी कैवल्य अर्हन्त अवस्था में बहुत लम्बे समय तक जैनधर्म का तथा मोक्षमार्ग का प्रचार किया। धर्म प्रचार के लिये उन्होंने सर्वत्र (सब जगह) विहार किया।

जगत में धर्म प्रचार करके वे फिर पूर्ण आत्म-साधना के लिये कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल के द्वारा अवशिष्ट कर्म-शत्रुओं का क्षय किया। उस समय आपका नाम कैलाशपति प्रसिद्ध हुआ। पर्वत-निवासिनी जनता (पार्वती) आपको अपना प्रभु मानती थी, अतः आपको पार्वती-पति भी कहा जाने लगा।

कैलाश पर्वत पर योग समाधि से आपने शेष कर्मों का क्षय करके पूर्ण मुक्ति प्राप्त की। अनन्त काल के लिये अजर, अमर, नित्य निरञ्जन, सच्चिदानन्द परमात्मा बन गये। संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट गये।

भरत की दिग्विजय

भगवान ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने राज सिंहासन पर बैठकर न्याय नीति तथा प्रताप से बहुत दिनों तक शासन किया। कुछ समय पश्चात् वह अपनी विशाल सेना और चक्र नामक दिव्य अस्त्र लेकर दिग्विजय के लिये निकला। समस्त देशों तथा समस्त राजाओं को जीत कर वह प्रथम चक्रवर्ती सम्राट बना।

उसी के नाम पर समस्त देशों का सामूहिक नाम भरतक्षेत्र तथा इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार कर्मयुग के आदि-सृष्टा, अक्षर तथा अंक विद्या के आदि विधाता, साधुचर्या के आदि संचालक, धर्म के आदि उपदेष्टा, मुक्तिपंथ के आदि पथिक, भगवान आदिनाथ का यह संक्षेप में परिचय है, इसका विस्तार से विवेचन आदिपुराण में लिखा हुआ है।

जैन शास्त्रों के इस कथन की पुष्टि अन्य जैनेतर पौराणिक ग्रन्थों ने की है। वेदों में भगवान आदिनाथ का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया गया है तथा अनेक इतिहास-वेत्ता विद्वान भी इस बात का समर्थन करते हैं।

भागवतपुराण

वैदिक धर्म में भगवान के 24 अवतार माने गये हैं, उनमें से साधु मार्ग का संचालक, मोक्षमार्ग का उपदेशक और धर्म का संस्थापक ऋषभ को माना गया है। भागवत पुराण में भगवान आदिनाथ का वर्णन जैन ग्रन्थों से मिलता-जुलता पाया जाता है।

भागवत पुराण के दूसरे स्कन्द के सातवें अध्याय पृष्ठ 372 को देखिये

नाभेरसौ ऋ षभ आप्तसुदेवसूनु:,
यो वै चचार समदृग योगचर्याम् ।
यत्पारहंस्यमृषय: पदमानमंति,
परित्यक्तसङ्ग, स्वस्थ: प्रशान्तकरण: ।। 10 ।।

इस श्लोक की टीका पं. ज्वालाप्रसाद जी मिश्र ने निम्नलिखित की है:

ईश्वर अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेव जी भये समद्रष्टा जड़ की नाईं योगाभ्यास करते भये। जिनके परमहंस पद को ऋषियों ने नमस्कार कीनी। स्वस्थ, शान्त इन्द्रिय सब संग त्यागे ऋषभदेव भये। जिनसे जैनधर्म प्रगट भयो।

इस तरह भागवत के कथनानुसार योगमार्ग के आदि प्रवर्तक और धर्म के आदि उपदेशक भगवान ऋषभदेव थे। उन्होंने ही जैनधर्म की नींव डाली। इस प्रकार जैनधर्म जगत का सबसे प्राचीन आदि धर्म है

हरिवंश पुराण में लिखा है–

दर्शयन् वर्ष वीराणां, सुरासुरनमस्कृत: ।
नीतित्रयस्य कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिन: ।।33

अर्थ वीर पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ का मार्ग दिखाने वाला, सुर–असुरों से पूजनीय, युग के आदि में (सृष्टि के आरम्भ में) प्रथम जिन (भगवान आदिनाथ) हुए।

वायुपुराण अध्याय 33 पृष्ठ 57 पर

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम्।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्थ पूर्वजम् ।। 50 ।।

अर्थ–नाभिराजा ने मरुदेवी से महाकांतिमान पुत्र ऋषभ उत्पन्न किया। ऋषभ समस्त क्षत्रियों का पूर्वज था।

शिवपुराण

इत्थं प्रभव ऋषभोऽवतारः शिवस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवः॥

अ. 4 श्लोक 48

अर्थ–शिव जी कहते हैं कि ऋषभ मेरे ही अवतार हैं। वे दीनों के बन्धु हैं, सत्पुरुषों की गति उनसे ही होती है।

महाभारत में लिखा है–

पुनस्तत्रैव सर्वज्ञः सर्वदेवनमस्कृतः ।
छत्रत्रयातिसंयुक्तः पूज्यमूर्तिरसौ वहन् ।। 1।।
परमात्मानमात्मानं लसत्केवल निर्मलम् ।
निरञ्जनं निराकारं ऋषभं तु महेद् वृषम् ।।2 ।।

अर्थ–ऋषभदेव सर्वज्ञ थे, सब देवों से नमस्कृत (पूज्य) थे, तीन छत्र से शोभायमान थे और पूज्यमूर्ति थे, निर्मल केवलज्ञान से शोभायमान, परमात्मा, निरञ्जन, निराकार श्रेष्ठ ऋषभ की पूजा करनी चाहिए।

प्रभासपुराण में लिखा है–

कैलाशे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
सकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ।।59 ।।

यानी–विशाल रमणीयं कैलाश पर्वत पर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी शिवरूप भगवान ऋषभ जिनेश्वर अवतरित हुए।

ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है–

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः।

इस आर्यावर्त में इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न नाभिराजा तथा मरुदेवी के पुत्र महादेव ऋषभनाथ ने क्षमा, मार्दव आदि 10 प्रकार का धर्म स्वयं आचरण किया और केवलज्ञान प्राप्त होने से उस धर्म का प्रवर्तन किया। यहाँ भगवान ऋषभनाथ को महादेव विशेषण से भी अलंकृत किया है। इसी प्रकार व्यासऋषि विरचित पुराण ग्रन्थों में भगवान ऋषभनाथ का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। भागवत पुराण में विस्तार से विवरण दिया है।

वैदिक धर्म में श्री शुकदेव जी एक महान प्रख्यात ऋषि हो गये हैं उन्होंने 24 अवतारों में से केवल भगवान ऋषभदेव को नमस्कार किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? इस प्रश्न का सुन्दर उत्तर भागवत में निम्नलिखित दिया है–

"भगवान ने अनेक अवतार धारण किये परन्तु जैसा संसार के मनुष्य कार्य करते हैं वैसा ही भगवान ने किया। परन्तु ऋषभदेव ने जगत को मोक्षमार्ग दिखलाया और अपने आप में भी मोक्ष जाने के कर्म किये। इसलिये शुकदेव ने ऋषभदेव को नमस्कार किया।"

–पं. शालिग्रामकृत भाषाटीका।

यानी – मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति और प्रचार भगवान आदिनाथ ने ही किया है। वेदों में अनेक स्थानों पर भगवान आदिनाथ का स्मरण बहुत सम्मान के साथ किया गया है।

देखिये–

अंहोमुचं वृषभं यज्ञिवानां, विराजतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुंवे, धियं इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः ।।

अथर्ववेद कां. 19–42–4

यानी समस्त पापों से मुक्त, व्रतियों में प्रथम (श्रेष्ठ) विराजमान आदित्यस्वरूप भगवान आदिनाथ हैं।

अनर्वाणां ऋषभं मन्द्रजिह्वं
बृहस्पतिं वर्धया न व्यमर्के।

–ऋग्वेद में.1 सूक्त 190 मंत्र 1

अर्थात–मिष्टभाषी, शानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वर्जित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ।।

– ऋग्वेद 8–8–24

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधान,
मपकवारि दिव्यं शासनमिन्द्रम् ।
विश्वासामवसे नूतनायोग्रं,
सहोदामिह में हुवेम ।। 14–6–6
समिद्धस्य प्रमंहसोग्रे वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो धुम्रवां असि समध्वरेष्विध्यसे।।

–4–1–25

स्तोकानामिन्दु प्रतिशूर इन्द्रो,
वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।

–यजु. 20–24

इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों में भगवान आदिनाथ का नाम उल्लेख मिलता है।

जिस प्रकार जैन ग्रन्थों में उन्हें पहला योगी माना गया है, उसी तरह जैनेतर ग्रन्थों में भी उन्हें योग विद्या का प्रारम्भ करने वाला बतलाया गया है

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै,
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणां व।।1।।

– हठयोग प्रदीपिका।

श्री आदिनाथ (ऋषभनाथ) भगवान को नमस्कार हो जिन्होंने उस हठयोग विद्या का सर्वप्रथम उपदेश दिया जो कि बहुत ऊँचे राजयोग पर चढ़ने के लिए नसैनी के समान है।

वैदिक धर्म में 10 अवतारों को मुख्य माना गया है –

मत्स्यः कुर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णाश्च बुद्धः कल्की च ते दश ।।

यानी – मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्की ये भगवान के 10 अवतार हैं।

योग विद्या की परम्परा भगवान आदिनाथ (ऋषभनाथ) से प्रारम्भ हुई है। भगवान आदिनाथ से योगविद्या मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राप्त की। मत्स्येन्द्रनाथ से गोरखनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ । इस बात का समर्थन निम्नलिखित

आधारों से होता है।

आदिनाथं च मत्स्येन्द्रं गोरक्षं गहिनीं तथा ।
निवृत्ति ज्ञाननाथं च भूयो भूयो नमाम्यहम् ।।

यानी – आदिनाथ सकल संसारी जीवों का गुरु है, उनका मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र है। मत्स्येन्द्र ने गोरख को बोध दिया, वही योग–ज्ञान परम्परा से चला आ रहा है, अतः उनको बार– बार नमस्कार करता हूँ।

इसी के अनुरूप मराठी भाषा में सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है –

आदिनाथ गुरु सकल सिद्धाचा,
मत्स्येन्द्र तयाचा मुख्य शिष्य ।
मत्स्येन्द्राने बोध गोरखांशी केला,
गोरक्ष ओड़ला गहिनी प्रती ।

यानी – समस्त सिद्धों (योगियों) का गुरु आदिनाथ है। आदिनाथ का मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र है। मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को ज्ञान दिया।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भगवान ऋषभनाथ (आदिनाथ) पहला योगी बतलाया गया है :–

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता ।
व्यंद तोलै राषीले गोरख अवधूता ।।

गोरक्षपा पृ.156

दर्शन (चौरासी सिद्धों का)

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता,
कायागढ़ जीतिले गोरख अवधूता। (गोरक्षपा पृ.156 **)**

– दर्शन (84 सिद्धों का) पृ. 157

आदिनाथ शिवः।
सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः ।।

हठयोग टीका कल्याण (गोरखपुर) जनवरी 1950 के 854 वें पृष्ठ पर लिखा है– "सन्त महापुरुष नाम वर्ण जाति से परे होते हैं। नाथ पंथ का प्रारम्भ आदिनाथ भगवान शंकर से माना जाता है। आदिनाथ जी से मत्स्येन्द्रनाथ जी को 'योग' प्राप्त हुआ। नेपाल राज्य के अधिष्ठाता गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। वहाँ आपको अर्यावलोकितेश्वर कहा जाता है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी के प्रधान शिष्य गोरखनाथ हैं।"

इन उपर्युक्त उद्धारणों से यह समर्थन होता है कि ज्ञान का स्त्रोत भगवान आदिनाथ (ऋषभनाथ) से बहा है।

मनुस्मृति में लिखा है –

अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत्।।

यानी – अरसठ तीर्थों में यात्रा करने से जो फल होता है उतना फल भगवान आदिनाथ के स्मरण करने से होता है। आदिनाथ भगवान ऋषभनाथ का ही अपर नाम है। आदिजिन, आदीश्वर, अग्रजिन भी भगवान ऋषभनाथ के ही दूसरे नाम हैं।

हिन्दी विश्वकोष, हिन्दी शब्दसागर कोष, संस्कृत–हिन्दी कोष, शब्दकल्पद्रुम कोष, शब्दार्थ चिन्तामणिकोष इत्यादि में भगवान आदिनाथ को आदिजिन, प्रथम तीर्थंकर बतलाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक विद्वान, भारत के राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् अपने ग्रन्थ इंडियन फिलासफी के पृष्ठ 287 पर लिखते हैं –

The Bhagwat Purana endorses the view that Rishabh was the founder of Jainism.

यानी – भगवत पुराण के मतानुसार जैनधर्म के संस्थापक भगवान आदिनाथ थे।

मोहनजोदड़ो (सिन्ध) में जो साढ़े पाँच हजार वर्ष पुरानी वस्तुएँ पृथ्वी के नीचे से प्राप्त हुई हैं उनमें कुछ मुहरें (सीले) भी हैं। उनमें से प्लेट संख्या 2 की तीन से पाँच (3–4–5) तक की सीलों पर भगवान आदिनाथ की नग्न खड़ी हुई मूर्ति अंकित है दूसरी ओर उनका चरणचिह्न बैल बना हुआ है। श्री रायबहादुर प्रो. श्री रामप्रसाद जी चन्दा ने इस सीलों का अध्ययन करके मौडर्न रिव्यू के अगस्त 1932 के प्रकाशन में जो अपना मत प्रगट किया है उसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है–

''ईसवी की दूसरी शताब्दी की मथुरा वाली ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति, जो कि चार मूर्तियों के समान है, यहाँ उसके प्रमाण दिये जाते हैं। मिश्र (ईजिप्सियन) की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं, जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। ईजिप्सियन की ये प्राचीन मूर्तियाँ और ग्रीक की मूर्तियाँ एक सरीखी हैं, किन्तु इनमें वैराग्य की दृष्टि का, जो कि मोहनजोदाड़ो और मथुरा की जैन मूर्तियों में पाई जाती हैं, अभाव है। ऋषभ का अर्थ बैल है और बैल ऋषभनाथ का चिह्न है। प्लेट नं. 2 की तीन से पांच नंबर तक की सीलों पर खड़ी हुई मूर्तियाँ जो कि बैल सहित हैं, भगवान ऋषभदेव की नकल है। कायोत्सर्ग आसन खास तौर से जैनों का है। यह बैठे हुए का आसन नहीं है, खड़े हुए का है। आदि पुराण अध्याय 18 में ऋषभ या वृषभ के संबंध में इसका उल्लेख है –

इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म के आदि संस्थापक श्री भगवान ऋषभनाथ की पूज्यता बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के इतिहास के अध्यापक डॉ. प्राणनाथ जी विद्यालंकार ने मोहनजोदड़ो की 5500 वर्ष प्राचीन 449वीं सील का अध्ययन करके लिखा है–

It may also be noted that the inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment Jineshwar Jinesh. (Indian, Historical quarterly Vol. VIII No.2)

यानी–डॉ. प्राणनाथ जी विद्यालंकार की सम्मति अनुसार मोहनजोदड़ो की साढ़े पाँच हजार वर्ष पुरानी 449 वीं सील पर जिनेश्वर या जिनेश शब्द अंकित है।

जिनेश या जिनेश्वर शब्द जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर का वाचक है। कारण 449 वीं मुहर से भी साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व जैन तीर्थंकरों की मान्यता प्रमाणित होती है।

ईसवी सन् से 475 वर्ष पूर्व कलिंग का शासन महान पराक्रमी सम्राट राजा खारवेल हुआ है उसने खण्डगिरि उदयगिरि पहाड़ी पर (हाथीगुफा) 18 पंक्तियों का एक लेख खुदवाया है। उस लेख में उसने अपनी विजयों तथा राज्य विस्तार का, राज्याभिषेक आदि का विवरण दिया है। उसी लेख में उसने यह भी लिखाया है कि 300 वर्ष पूर्व कलिंग राजपरिवार से मगधराजा द्वारा अपहरण की गई अग्रजिन (भगवान ऋषभनाथ) की मूर्ति को मैं (खारवेल) मगध को जीत कर पुनः कलिंग में लाया।

इस ऐतिहासिक लेख से भी प्रमाणित होता है कि भगवान ऋषभनाथ की पूज्यता लगभग तीन हजार वर्ष से भी पहले राजपरिवारों में भी थी।

आदि ब्रह्मा

पौराणिक ग्रन्थों में सृष्टि का निर्माण करने वाला ब्रह्मा माना गया है। वह विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल पर बैठा हुआ चार मुख वाला निरूपित किया है। उसने अपने चारों मुखों से चार वेदों का उच्चारण किया।

'यह जगत अकृत्रिम अनादिनिधन है, न कभी यह शून्य दशा में था और न कभी शून्य दशा में होगा। इसका प्रत्येक मूर्त, अमूर्त, जड़–चेतन पदार्थ सदा से रहा है और सदा बना रहेगा। उनकी पर्याय (हालत) बदलती रहेगी उनका पूर्ण विनाश कभी नहीं होगा।

इस सिद्धांत को जैसे जैनधर्म मानता है, विज्ञान (साइंस) भी उसका उसी तरह समर्थन करता है, अतः जगत् का निर्माण कभी किसी समय किसी ने किया, यह मान्यता गलत है। तथा–वेदों की रचना भी विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न समय पर की है। उनमें विभिन्न स्थितियों की विभिन्न घटनाओं का ऐतिहासिक रूप भी मिलता है, इस कारण स्पष्ट होता है कि वेदों का निर्माण विभिन्न ऋषियों की कविताओं द्वारा संकलित रूप से हुआ है। वे पीछे के बने हुए हैं। अतः ब्रह्मा द्वारा उनकी उत्पत्ति मानना निराधार है। चार मुख वाला ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुआ या किसी अन्य व्यक्ति ने उत्पन्न किया ? जैसे कि प्रत्येक शरीरधारी मनुष्य, पशु–पक्षी आदि गर्भज प्राणी अपने माता–पिता के संयोग से उत्पन्न हुआ करता है तद्नुसार मनुष्य रूपधारी चतुर्मुखी ब्रह्मा की उत्पत्ति भी किसी माता–पिता से होनी चाहिए। वह इस समय भी कहीं पर है या नहीं ? इत्यादि प्रश्नों का स्पष्ट प्रामाणिक

अकाट्य उत्तर नहीं मिलता, अतः ब्रह्मा की स्थिति विवादास्पद बन जाती है, या बनी हुई है। चार मुख बनाने की जो कथा सुखसागर आदि ग्रन्थ में दी गई है, वह ब्रह्मा के उच्च चारित्र के अनुकूल नहीं है। विष्णु की नाभि से कमल का उत्पन्न होना और उस पर ब्रह्मा का विराजमान होना भी अप्राकृतिक असंभव घटना है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा का रूप भगवान ऋषभनाथ को उद्देश्य करके अलंकरित रूप में लिखा गया है।

भगवान ऋषभनाथ ने कर्मयुग के प्रारम्भ में अपने जीवन-निर्वाह से अनभिज्ञ जनता को असि (अस्त्र-शस्त्र चलाना क्षात्रकर्म), मषि (लिखना-पढ़ना), कृषि (खेती-बाड़ी), शिल्प (बर्तन-वस्त्र बनाना, आदि हस्त कला), विद्या (पढ़ना-पढ़ाना), वाणिज्य (व्यापार, पशुपालन आदि उद्योग) ये 6 कार्य तथा राजनीति, युद्ध कला, मल्ल विद्या, नाट्य, गीत, संगीत आदि समस्त कलाएँ सिखलाई। समस्त स्त्री-पुरुषों को अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बनाया। इस प्रकार उन्होंने युग निर्माण किया। इसी कारण उनके विविध नाम विधाता, ब्रह्मा, आदिविधाता, आदिब्रह्मा, कर्मयुग-निर्माता आदि विख्यात हुए।

आत्म-साधना, योग, साधुचर्या की नींव भी भगवान ऋषभनाथ ने अपने योगी जीवन में डाली इस कारण वे योगमार्ग के प्रवर्तक, आदियोगी, आदिनाथ आदि नामों से पुकारे गये।

अर्हन्त सर्वज्ञ हो जाने पर समवशरण (उपदेश सभा मंडप) में जब उनका धर्म-उपदेश हुआ तब वे सिंहासन में रक्खे हुए कमल पुष्प पर विराजमान हुए तथा दैवी अतिशय से उनका एक मुख भी चारों ओर दिखाई दिया। इस कारण कमलासन पर विराजमान चतुर्मुखी ब्रह्मा भी उन्हें

कहा गया।

उन्होंने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदों का उपदेश दिया था, अतः ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेद प्रकट होने की कल्पना की गई।

नाभिराजा से आदिब्रह्मा भगवान ऋषभनाथ की उत्पत्ति हुई, इस कारण नाम के अनुरूप (विष्णु की) नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाया। इस तरह भगवान ऋषभनाथ को ही नाभि से उत्पन्न चतुर्मुखी जगनिर्माता ब्रह्मा मानना या समझना चाहिए।

शिव-रूप

महादेव के विषय में कहा जाता है कि महेश जगत् का प्रलय करते हैं, कैलाश पर्वत पर रहते हैं, हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती के वे पति हैं, बैल उनका वाहन है। उनके सिर से गंगा बहती है, गणेश उनके पुत्र हैं, वे नग्न दिगम्बर हैं, त्रिशूल उनका हथियार है, सर्प उनके गले में है, वे भिक्षा माँगते हैं।

यदि महेश वास्तव में ईश्वर रूप हैं तो उनका अस्तित्व इस समय भी होना चाहिये किन्तु इस समय वे कहीं पर नहीं हैं। भिक्षा माँगना, त्रिशूल रखना, पाषाणमय हिमालय पहाड़ की स्त्री-रूप-धारिणी सुन्दरी पुत्री पार्वती से विवाह करना, सर्प गले में डालना आदि बातें ईश्वर के योग्य नहीं प्रतीत होतीं। पहाड़ से पार्वती नामक कन्या का उत्पन्न होना असंभव है।

ये सब विशेषण भगवान ऋषभनाथ में घटित होते हैं। उन्होंने

आत्मशत्रुओं–राग,मद,मोह, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव–कर्मों तथा ज्ञानावरण आदि संसार–भ्रमण के कारणभूत द्रव्यकर्मों का दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप त्रिशूल से क्षय–संहार किया। इस अपेक्षा वे संसार के या कर्मशत्रुओं के प्रलय–कर्ता हैं। कैलाश पर्वत पर तपस्या करके भगवान ऋषभनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। अतः उनको कैलाशपति भी कहा जाता है।

पर्वत–निवासिनी जनता को पार्वती कहा जाता है। उस पार्वती (जनता) के प्रभु (पूज्य) होने के कारण भगवान ऋषभनाथ को पार्वती–पति भी कहा जा सकता है।

बैल का चिह्न पैर में था, अतः उनकी मूर्ति पर बैल का चिह्न अंकित रहता है, इस कारण भगवान ऋषभनाथ को वृषभ (बैल) नाथ भी कहा जाता है।

छः मास तक आत्मध्यान में लगे रहने के कारण उनके सिर की जटा जूट (बाल) बहुत बढ़ गई थी। वर्षा के दिनों में बादलों से बरसा हुआ जल उनकी जटा में भरकर बहता रहता था, अतः अलंकार के रूप में उनके सिर से गंगा की धारा बहने का विशेषण भगवान वृषभनाथ को लगाया गया।

साधु–अवस्था में भगवान ऋषभनाथ नग्न थे, अतः उनका नाम दिगम्बर भी प्रसिद्ध हुआ। योग–धारण के समय सर्प उनके शरीर पर चढ़ते–उतरते थे, गले में लिपट जाते थे।

वृषभसेन उनके पुत्र थे, वे वृषभसेन भगवान के दिव्य–उपदेश के समय उनके प्रथम गणधर हुए। गणेश भी उनको कहते हैं क्योंकि वे मुनिगण के ईश थे। इस तरह भगवान ऋषभनाथ को गणेश का जनक या पिता भी कहा जाता है।

साधु–अवस्था में भगवान ऋषभनाथ भोजन के लिये चर्या करते थे, इसी को भिक्षा भी कहा जाता है। इन सब बातों का संकलन किया जावे तो शिव या महादेव के समस्त विशेषण भगवान ऋषभनाथ में घटित होते हैं।

बाबा आदम

इस्लाम मतानुसार सृष्टि के आदि में एक ही मनुष्य जाति थी। मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलाने के लिये बाबा आदम ने धर्मोपदेश दिया।

आदम आदिनाथ का अपभ्रंश शब्द है। इस्लाम जिस आदिपुरुष को आदम शब्द से कहता है वह आदम बाबा भगवान ऋषभनाथ ही हैं जिनका अपर नाम आदिनाथ है।

इस्लामी ग्रन्थों में बतलाया गया है–नबी का बेटा रसूल था, जिसको खुदा (परमात्मा) ने ईश्वरीय उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिये पैदा किया।

इसका भी अभिप्राय यह है (नाभि) नबी का पुत्र (बेटा) रसूल (ऋषभ) हुआ जो मनुष्यों का पहला धर्म–उपदेशक हुआ।

नबी शब्द नाभि का अपभ्रंश है और रसूल शब्द ऋषभ का अपभ्रंश है। ‘आदम’ आदिनाथ का अपभ्रंश है।

मैराजुलनबूत नामक मुसलमानी पुस्तक में लिखा है कि–

‘बाबा आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए।’

इसके अनुसार भी बाबा आदम का अभिप्राय भगवान आदिनाथ (ऋषभनाथ) से है।

भरत और भारत

हमारे देश का नाम जो 'भारत' है यह लाखों वर्ष पहले का प्राचीन नाम है। देश का यह नाम भगवान आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर प्रचलित हुआ है। सम्राट भरत समस्त देशों की विजय करने वाला पहला चक्रवर्ती सम्राट हुआ था। इस बात के समर्थन में अनेक ग्रन्थों के उल्लेख हैं। देखिये–

अग्नीन्ध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विजः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः । 69।
सोऽभिषिंच्यर्षभः पुत्रं महाप्राब्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमशंसयः । 40 ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः । 41 ।

मार्कण्डेय पुराण अ. 50

अर्थ – अग्नीन्ध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ जो कि अपने सौ भाइयों से बड़ा था। ऋषभदेव ने अपने बड़े पुत्र भरत का राज्य अभिषेक करके स्वयं प्रब्रज्या (साधुदीक्षा) ग्रहण की और तप करने लगे। भगवान ऋषभदेव ने भरत को हिमालय पर्वत से दक्षिण का राज्य दिया था, इस कारण उस महात्मा भरत के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
तस्माद्भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः । 52।

वायुपुराण अ. 37

अर्थ – भगवान ऋषभदेव से वीर भरत का जन्म हुआ जो कि अन्य सौ पुत्रों से बड़ा था। भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत्।
तस्माद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभवत्। 12।

अग्निपुराण अ. । 10।

यानी – मरुदेवी माता से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई और भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नामेदं भारतं खण्डमुच्यते। 4।

नारदपुराण अ. 48

अर्थ – पुरातन समय में ऋषभ का पुत्र मुनिश्रेष्ठ भरत नाम का राजा था उसके नाम से इस देश का नाम भारत कहा जाता है।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते। 32।

विष्णु पुराण अंश 2–अ.1

अर्थ – सौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र भरत ऋषभदेव जी से उत्पन्न हुआ उस भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष कहा जाता है।
है।

इसी प्रकार कूर्म पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख मिलता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध मासिक पत्र कल्याण में (वर्ष 21 पृष्ठ 151), ज्ञानोदय (वर्ष 2 पृष्ठ 447) तथा Jain Antiquary (Vol. IX P. 76)

एवं भारत के प्राचीन राजवंश (भाग 2 पृष्ठ 1) ग्रन्थ में भी इसी बात

का समर्थन किया गया है कि भगवान ऋषभ के बड़े पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष रखा गया है।

जे. स्टीवेन्सन ने लिखा है।

Brahmancial Puranas prove Rishabha to be the father to that Bharata from whom India took its name Bharatavarsha.
(Kalpasutra Introd. P. XVI)

यानी - ब्राह्मण पौराणिक ग्रन्थ बतलाते हैं कि ऋषभ के पुत्र भरत हुए उनके नाम से इंडिया का नाम भारतवर्ष हुआ।

इस तरह अनेक प्रमाणों से समर्थन होता है कि भगवान ऋषभनाथ के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष रक्खा गया है।

अन्य ऐतिहासिक तीर्थंकर

भगवान ऋषभनाथ ने जैनधर्म की स्थापना की। कैलाश पर्वत से उनका निर्वाण हो जाने के पश्चात् उनके अनुयायी ऋषियों ने उस धर्म की परम्परा चालू रखी।

फिर बहुत समय पश्चात् दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ उत्पन्न हुए। उन्होंने भी राजपाट त्याग कर साधुदीक्षा ली और तपस्या करके सर्वज्ञ अर्हन्त पद प्राप्त किया। तदनन्तर समवसरण (धर्म- परिषद्) में धर्म का उपदेश देकर भगवान ऋषभनाथ के प्रचारित जैनधर्म का प्रचार किया।

डॉक्टर राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक इण्डियन फिलासफी में जिल्द 1 पृष्ठ 287 पर लिखा है कि-

यजुर्वेद में अजितनाथ तीर्थंकर का उल्लेख है।

भगवान अजितनाथ के मुक्ति-गमन के बहुत-बहुत समय पश्चात्

क्रम से संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, तीर्थंकर हुए। उन्होंने अपने-अपने समय में (वासुपूज्य तथा मल्लिनाथ के सिवाय) गृहस्थ अवस्था में राज्य किया फिर राज्यभार त्याग कर मुनिदीक्षा ली। तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर बहुत समय तक धर्म प्रचार करके अन्त में मुक्ति प्राप्त की। भगवान वासुपूज्य और मल्लिनाथ ने अपना विवाह नहीं किया, बालब्रह्मचारी रहे। यौवन अवस्था में साधुदीक्षा लेकर तपस्या की और सर्वज्ञ होकर अन्य तीर्थंकरों के समान धर्मप्रचार किया तथा अन्त में मुक्त हुए। वासुपूज्य चम्पापुर से मुक्त हुए, शेष समस्त तीर्थंकर सम्मेदशिखर पर्वत से मुक्त हुए।

मुनिसुव्रतनाथ

भगवान मल्लिनाथ के बहुत समय पश्चात् 20 वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ हुए। उन्होंने कुछ समय राज्य किया फिर जब उनको संसार से विरक्ति हुई तब उन्होंने स्वयं साधु-दीक्षा लेकर तपस्या की। जब कर्मशत्रुओं का क्षय करके वे सर्वज्ञ अर्हन्त हुए तब उन्होंने भी दीर्घ काल तक धर्म का प्रचार किया। अन्त में उन्होंने सम्मेदशिखर से मुक्ति प्राप्त की।

इनके समय में (बलभद्र) राम तथा लक्ष्मण, रावण, हनुमान आदि विश्वविख्यात शूरवीर पुरुष हुए हैं। राम-रावण का युद्ध भी भगवान मुनिसुव्रतनाथ के समय में हुआ है।

राम को अपने जीवन के अन्तिम समय में संसार से वैराग्य हुआ तो

शान्ति प्राप्त करने के लिये जो अपनी इच्छा व्यक्त की, उसका उल्लेख योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में यों किया है –

नाहं रामो न मे वाञ्छा विषयेषु च न मे मनः ।
शान्तिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।।

अर्थ – रामचन्द्र जी कहते हैं कि मैं न तो राम (रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः यानी योगी जिसमें रमण करें ऐसा महायोगी या ईश्वर) हूँ, न मुझे कोई इच्छा है, न मेरा मन विषय-भोगों में लगता है। मैं तो जिन (जिनेन्द्र भगवान) के समान अपनी आत्मा में ही शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

योगवाशिष्ठ के इस श्लोक से सिद्ध होता है कि राम-लक्ष्मण के समय में भी जैन तीर्थंकर आत्म-धर्म का प्रचार कर रहे थे तभी उनके समान शान्त बनने की इच्छा राम के हृदय में उत्पन्न हुई। उन जिन (तीर्थंकर) का नाम मुनिसुव्रतनाथ था। वे 20वें तीर्थंकर थे। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के मुक्त हो जाने पर बहुत समय पीछे मिथिलापुरी में राजा विजयरथ के पुत्र नमिनाथ हुए। ये 21वें तीर्थंकर थे।

इन्होंने यौवन समय राज्य किया, विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहे। फिर संसार से विरक्त होकर राज्य परिवार से मोह-ममता त्याग कर साधु बने। साधु बनकर इन्होंने आत्म-शुद्धि करने के लिये वन, पर्वत आदि एकान्त शान्त स्थानों में तपश्चरण करके सर्वज्ञ पद प्राप्त किया।

सर्वज्ञ होकर इन्होंने बहुत समय तक अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के समान धर्म का प्रचार किया।

अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत पर समस्त कर्म क्षय करके मुक्ति प्राप्त की, अजर अमर परमात्मा बन गये।

भगवान नेमिनाथ

यदुवंशीय राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ हुए। राजा समुद्रविजय वसुदेव के बड़े भाई थे। अतः कृष्ण, बलभद्र (बलराम) नेमिनाथ के चचेरे भाई थे। नेमिनाथ 21वें तीर्थंकर हुए हैं। जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की सुन्दर सुपुत्री राजीमती के साथ नेमिनाथ का विवाह होना था उसके लिये द्वारिका से नेमिनाथ की बारात बड़ी धूमधाम से जूनागढ़ पहुँची। जूनागढ़ में एक स्थान पर बहुत से पशु घिरे हुए थे, वे दुःख से चीख रहे थे। भगवान नेमिनाथ ने पूछा कि इन निरपराध पशुओं को इस तरह क्यों बन्द करके रक्खा हुआ है?

तब उनको उत्तर मिला कि आपकी बारात में जो व्यक्ति मांसभक्षी आये होंगे उनके भोजन के लिये इन पशुओं का हनन किया जायेगा।

यह बात सुनकर नेमिनाथ को संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने विचार किया कि मेरा विवाह-उत्सव और इन मूक पशुओं की मृत्यु! कितनी विषम घटना है। ऐसे गृहस्थाश्रम को धिक्कार है जिसकी योजना के लिये इतना भारी पाप होता है। मैं अपने हर्ष के लिये किसी दीन प्राणी को दुःख नहीं देना चाहता।

ऐसा विचार करके वे अपने रथ से नीचे उतरे और सबसे पहले उन्होंने उन पशुओं को बन्धन-मुक्त किया। फिर अपने सिर से मौर-मुकुट तथा शरीर से विवाह के वस्त्र-आभूषण उतार डाले और उसी समय स्वयं साधुदीक्षा लेकर जूनागढ़ के निकटवर्ती ऊर्जयन्त (गिरिनगर या गिरिनार) पर्वत पर तप करने चले गये। बारात तथा कन्या-पक्ष की जनता उदास होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई। बारात खाली वापिस लौट गई।

उग्रसेन की सुपुत्री राजकुमारी राजीमती ने जब अपने होने वाले पति नेमिनाथ के साधु बन जाने की घटना सुनी तो उसे भी संसार से वैराग्य हो गया और उसने घर परिवार से मोह ममता त्याग कर साध्वी का रूप बना लिया। तदनन्तर वह भी तपस्या करने गिरनार पर्वत पर चली गई।

बहुत दिन तक तपस्या करने के बाद भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान हो जाने पर समवशरण द्वारा उन्होंने सर्वत्र विहार करके धर्म–प्रचार किया। उनका समवशरण द्वारिका भी गया था। उस समवशरण में भगवान की वन्दना के लिये कृष्ण, बलभद्र आदि यदुवंशी आये थे। बहुत समय धर्म प्रचार करके अन्तिम समय गिरनार पर्वत (ऊर्जयन्त, रैवतक, गिरिनगर आदि नाम भी इस पर्वत के हैं) पर आये वहीं से समस्त कर्मों का क्षय करके अजर–अमर मुक्त हो गये।

भगवान नेमिनाथ का दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी है। इनका उल्लेख भी पुराणों तथा वेदों में मिलता है।

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ।।

महाभारत

अर्थ– कैलाश पर्वत पर भगवान आदिनाथ (भगवान ऋषभनाथ) ने युग के आदि में मुक्ति प्राप्त की तथा रेवत पर्वत (गिरनार) पर जिनेन्द्र नेमिनाथ ने मुक्ति प्राप्त की। इसी कारण ये दोनों पर्वत ऋषियों के आश्रम बने और इसी कारण ये मुक्तिमार्ग के कारण माने गये हैं।

स्कन्द पुराण प्रभासखंड के वस्त्रापथ क्षेत्र माहात्म्य अध्याय 16 पृष्ठ 221 में गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ का जिक्र करते हुए लिखा है –

मनोभीष्टार्थसिद्ध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान् ।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नाम चक्रेथ वामनः ।96।

अर्थ – अपना मनोवांछित कार्य सिद्ध करने के लिये गिरनार पर आया और वामन ने भगवान नेमिनाथ का नाम 'नेमिनाथ शिव' रक्खा।

तवां रथं वयद्याहुवेम–
स्तो मेरश्विना सविताय नव्यं ।
अरिष्टनेमिं परिद्यामियानं,
विद्यामेषं वृजनं जीरदानम् ।।

ऋग्वेद अ. 2 अ. 4 व 24

अर्थ – जिसमें बड़े–बड़े घोड़े जुते हुए हैं ऐसे रथ में बैठे हुए, आकाश पथ में चलने वाले सूर्य के समान विद्यारूपी रथ में बैठे हुए अरिष्टनेमि! का हम आह्वान करते हैं।

ओम् रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा (यजुर्वेद अ. 26)

यानी – हे अरिष्टनेमि! हमारी रक्षा करो।

वाजस्यनु प्रसव आभूवेमा,
च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
स नेमिराजा परियति विद्वान्
प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा।

यजुर्वेद अ.9 मंत्र 25

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः ।

स्वस्ति न स्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥

–सामवेद प्रपा. 9 अ. 3

इस प्रकार पौराणिक तथा वैदिक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर भगवान नेमिनाथ का सम्मान के साथ उल्लेख आया है। भारत के राष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन ने भी अपनी इंडियन फिलासफी जिल्द 2 पृष्ठ 287 पर इसका समर्थन किया है कि जैनधर्म के 22 वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का वेदों में वर्णन पाया जाता है।

डॉक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य अपनी पुस्तक अरिष्टनेमि पृष्ठ 58 पर लिखते हैं

When the samavsharana of Lord Arishta Nemi was reported to have come near Diwarkaji Lord Krishna went to see him with his family. Lord Krishna bowed down to Lord Arishta Nemi.

यानी – जब कृष्ण को सूचना मिली कि भगवान नेमिनाथ का समवशरण द्वारिका के समीप आया है तो कृष्ण अपने परिवार सहित उसे देखने गये। वहाँ जाकर उन्होंने नेमिनाथ की वन्दना की।

इसके सिवाय डॉक्टर फ्यूरर ने एपीग्राफी इण्डिका जिल्द 1 पृष्ठ 389 पर भगवान नेमिनाथ को 22वां जैन तीर्थंकर ऐतिहासिक रूप से स्वीकार किया है।

19 मार्च सन् 1935 के टाइम्स आफ इण्डिया के 9वें पृष्ठ पर डॉ. प्राणनाथ जी विद्यालंकार का लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने कृष्ण के समकालीन भगवान नेमिनाथ को जैनधर्म के 22वें तीर्थंकर के रूप में उल्लेखित किया है।

डॉ. विमलचरण लॉ एम.ए.एल.एल.बी. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया में लिखते हैं–

अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे, ये एक वरद क्षत्रिय धर्मप्रसारक व समाज के धुरीण हो गये हैं, वे संयमी, ध्यानमग्न, चतुर और शान्त स्वभावी थे। उनको सत्यदर्शन हुआ था वे शुद्धसत्व व धर्मप्रवीण थे उन्होंने सब बन्धन नष्ट किये थे।

श्री एच.एस. भट्टाचार्य एम.ए. विश्व की दृष्टि में जैनधर्म पुस्तक में 18 वें पृष्ठ पर लिखते हैं–

भगवान नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष हैं क्योंकि यदि महाभारत के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्ण इतिहास की भाषा में अस्तित्व रखते हैं, तो उनके चचेरे भाई परमदयालु भगवान नेमिनाथ को कौन सहृदय ऐतिहासिक विभूति न मानेगा ? जिनके निर्वाणस्थल के रूप में ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार पर्वत) पूजा जाता है।

इत्यादि प्रमाणों से भगवान नेमिनाथ का भी 22वें तीर्थंकर के रूप में समर्थन होता है। अभिप्राय यह है कि महाभारत के समय में भी जैनधर्म का प्रचार था।

भगवान पार्श्वनाथ

बनारस के क्षत्रिय राजा अश्वसेन की रानी वामादेवी के उदर से महान तेजस्वी पुत्र पार्श्वनाथ हुए। वे जैनधर्म का महान प्रचार करने वाले 23वें तीर्थंकर थे। इनका जन्म ईस्वी सन् से 877 वर्ष पहले हुआ था। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया, बालब्रह्मचारी रहे। जिस यौवन अवस्था में

मनुष्य कामवासना का शिकार बनकर विषय भोगों में फँस जाता है उस यौवन दशा से भी पहले भगवान पार्श्वनाथ ने विषय-भोगों से विरक्त होकर ममतामयी माता तथा प्रेममय पिता और स्नेही मित्र-परिवार से मोह ममता त्याग करके साधु-दीक्षा ली। साधु बनकर पर्वत, गुफा, वन आदि एकान्त स्थानों में आत्म-शुद्धि के लिये कठोर तपस्या की।

आत्मध्यान के प्रभाव से घातिकर्मों का क्षय करके कैवल्य पद प्राप्त किया फिर सर्वत्र विहार करके 70 वर्ष तक धर्म का उपदेश देकर जनता को सन्मार्ग पर लगाया। अन्त में सम्मेदशिखर पर ईसवी सन् से 777 वर्ष पूर्व मुक्ति प्राप्त की।

भगवान पार्श्वनाथ भी ऐतिहासिक तीर्थंकर हुए हैं इनका अस्तित्व अनेक प्रमाणों से प्रमाणित होता है।

साहित्य एकेडमी दिल्ली से 1956 में प्रकाशित श्री धर्मानन्द कौशाम्बी - लिखित पुस्तक भगवानबुद्ध के पृष्ठ 35-36 पर लिखा है-

'वाराणसी काशी के अश्वसेन राजा की वामारानी के पेट से जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जन्म लिया था। उन्होंने उपदेश का प्रारम्भ गौतमबुद्ध के जन्म से पहले लगभग 243 वें वर्ष में किया था। इससे हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि काशी के महाजन केवल कला कौशल में ही नहीं बल्कि धार्मिक विचारों में भी अग्रणी थे।'

इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स की जिल्द 7वें में भगवान पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक व्यक्तित्व बतलाया गया है।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया की जिल्द 1 पृष्ठ 123 पर भी भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महान पुरुष माना गया है।

हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड की जिल्द 2 पृष्ठ 1198वें पर भी भगवान पार्श्वनाथ का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

डॉ. हेनरी लिखित फिलासफीज आफ इंडिया के पृष्ठ 182, 183 पर भी भगवान पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक अस्तित्व की पुष्टि की गई है।

श्री प्रोफेसर आयंगर लिखित स्टडीज इन साऊथ इंडियन जैनिज्म की जिल्द 1 पृष्ठ 2 पर भी भगवान पार्श्वनाथ का होना बतलाया गया है।

इत्यादि अनेक इतिहासवेत्ता विद्वानों ने अनुसन्धान करके भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष तथा महान धर्मप्रचारक स्वीकार किया है।

हजारीबाग गिरडीह जिले में अनेक पर्वतों का समुदाय रूप सम्मेद शिखर पर्वत स्थित है। इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर भगवान पार्श्वनाथ ने अजर-अमर मुक्ति पद प्राप्त किया था। इसी कारण इस पर्वत का नाम 'पारसनाथ हिल' भी है।

भगवान महावीर

कुण्डलपुर के शासक ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कोख से महान प्रतापी पुत्र भगवान महावीर का जन्म हुआ। वह दिन आज से 2623 वर्ष पहले चैत्र सुदी त्रयोदशी का था। ये जैनधर्म के अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थंकर थे। वैशाली के गणतन्त्रनायक राजा चेटक भगवान महावीर के नाना थे। कलिंग नरेश राजा जितशत्रु की सुन्दर युवती कन्या यशोदा के साथ भगवान महावीर का पाणिग्रहण (विवाह) होने की तैयारी हुई किन्तु भगवान महावीर ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। 30 वर्ष

तक घर में रहे फिर राजभवन छोड़कर आत्मशुद्धि के लिये तपस्या करने वन में चले गये।

बारह वर्ष तक कठिन तपस्या करने के बाद आपको सर्वज्ञ अर्हन्त पद प्राप्त हुआ। तब आपका दिव्य-उपदेश कराने के लिये समवशरण नामक दिव्य-सभा बनाई गई। उसमें आपने अहिंसामय उपदेश दिया। इस तरह 30 वर्ष तक आप सर्वत्र विहार करके अहिंसा धर्म का प्रचार करते रहे। आपके धर्मप्रचार से उस समय का पशु हवन यज्ञ होना बन्द हो गया। उन यज्ञों में घोड़े, बकरे आदि पशुओं को निर्दयता से मारा जाता था। उस हिंसा का प्रचार आपके उपदेश से रुक गया। 30 वर्ष तक लगातार धर्म-प्रचार करने के बाद अन्तिम समय आप पावापुरी पहुँचे, वहाँ पर से कार्तिक वदी अमावस्या को आपका निर्वाण हो गया। उस निर्वाण को अब 2551 वर्ष हो गये हैं।

दीपावली

कार्तिक वदी अमावस्या को रात्रि के अन्तिम पहर भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। उस समय स्त्री-पुरुषों तथा देवों ने असंख्य दीपक जलाकर निर्वाण-उत्सव किया था। उसी के स्मारक रूप भारत में प्रति वर्ष दीपावली (दिवाली) का उत्सव कार्तिक वदी अमावस को मनाया जाता है।

आपका जन्म-नाम वर्द्धमान था। तदनन्तर बाल्य अवस्था में ही वीरता आदि दिखलाने के कारण वीर, सन्मति, महावीर और अतिवीर भी आपके अपार नाम थे। आपके दाहिने पैर में सिंह का चिह्न था।

आपके नाम को चिरस्थायी रखने के लिये आपके नामानुसार बंगाल, बिहार में अनेक नगरों के वर्द्धमान, वीरभूमि, सिंहभूमि आदि नाम रखे गये। भगवान महावीर का सम्मान के साथ उल्लेख वर्द्धमान, वीर, सुवीर, महावीर आदि नाम लेकर वेदों में भी पाया जाता है।

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः
रूपमुपसदामेततिस्त्रो रात्रीः सुरासुता ।। 14।।

यजुर्वेद अध्याय 19

अर्थ–अतिथि, मास–उपवासी, नग्नमुद्राधारक भगवान महावीर की उपासना करो जिससे तीन प्रकार के अज्ञान अन्धकार रूपी रात्रि पैदा न हो। ऋग्वेद मंडल 2 अध्याय सूक्त 3 में लिखा है–

देववहिर्वर्धमानं सुवीरं, स्तीर्णं रायेसुभर वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तवसवः सीदतेदं, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियासः।। 4।।

अर्थ– हे देवों के देव वर्द्धमान! आप सुबीर हैं, व्यापक हैं। हम सम्पदा पाने के लिये इस वेदी पर घी से आपका आह्वान करते हैं। इसलिये सब देवता यज्ञ में आवें और प्रसन्न हों।

डॉ. विमलचरण लॉ एम.ए. एल. एल. बी. लिखते हैं–

Jain Tirthankaras are well-known in the Vedic literature.

यानी – वैदिक साहित्य में जैन तीर्थंकरों का अच्छा उल्लेख है।

अन्तर्राष्ट्रीय फिलासफर डॉ. राधाकृष्णन ने भी अपनी पुस्तक इंडियन फिलासफी में इस बात की पुष्टि की है।

प्रो. श्री विरूपाक्ष वडियर वेदतीर्थ लिखते हैं–

Vedas and Hindu Purans contain the names of Jain Tirthankaras frequently

यानी – वेदों और हिन्दू पुराणों में जैन तीर्थंकरों के नाम स्पष्ट और बार–बार पाये जाते हैं।

इस तरह विश्व हितंकर अहिंसामय धर्म की जिस ज्योति को भगवान ऋषभनाथ ने जगाया, वह ज्योति उनके पश्चात् क्रमशः होने वाले 23 तीर्थंकरों ने बुझने नहीं दी, आज भी वह धर्म–ज्योति जाग्रत है। अखिल विश्व को इस ज्योति से भूतकाल में पथ–प्रदर्शन मिला, वर्तमान में मिल रहा है और भविष्य में भी मिलेगा।

महात्मा बुद्ध

भगवान महावीर के समकालीन मगध में एक अन्य क्षत्रिय राजकुमार वैदिक पशुहवन के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार करने वाले प्रगट हुए जिनका प्रसिद्ध नाम महात्मा बुद्ध या गौतमबुद्ध है। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इन्होंने संसार से विरक्त होकर अपने शिशु पुत्र तथा पत्नी को एवं अपने अन्य समस्त परिवार को छोड़कर साधुदीक्षा ली।

उस समय भगवान महावीर का शासनकाल नहीं था उस समय भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा का श्रमण संघ (साधुगण) धर्म प्रचार कर रहा था।

श्री देवसेन आचार्य विरचित दर्शनसार पुस्तक में लिखा है–

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तमुणी ।। 6 ।।
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ।। 7 ।।

अर्थ– श्री पार्श्वनाथ भगवान के तीर्थकाल में (भगवान महावीर के धर्म–प्रचार होने से पहले) सरयू नदी के किनारे पलाश नगर में विराजमान श्री पिहितास्त्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। वह मरी हुई मछली के मांस को निर्दोष समझकर खा जाने से साधुचर्या से भ्रष्ट हो गया। तब उसने (अपना नग्न वेश छोड़कर) लाल कपड़े पहन लिये और क्षणिक एकान्त मत (बौद्धमत) की स्थापना की।

श्री देवसेन आचार्य का उक्त कथन सत्य प्रमाणित होता है क्योंकि उस समय भगवान पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा चल रही थी और गौतमबुद्ध ने घर बार त्याग कर पहले अपने शरीर के समस्त वस्त्र उतार कर जैनसाधु का नग्न वेश धारण किया था, कुछ दिन वे जैन साधु के समान नग्न (नंगे) रहकर तपस्या करते रहे किन्तु जब उनको वह नग्न तपस्या बहुत कठिन प्रतीत हुई तब उन्होंने उस नग्न मुनिचर्या को त्यागकर गेरुआ (लाल) कपड़े पहन लिये तथा जैन मुनि की खान–पान सम्बन्धी एवं अन्य चर्या का भी परित्याग कर दिया।

यह बात उन्होंने बौद्ध ग्रंथ मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त 12 में स्वयं बतलाई है।

देखिये......

अचेलको होमि... हत्थापलेखना... नाभिहंत न उद्दिस्सकतं न निमंतणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि न कलोपि मुखा परिगण्हामि, न एकलमंतरं न दण्डमंतरं न मुसलमंतरं, न द्विन्नं भुजमानानं न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसंतरगताम्,

न संकित्तिसु न यथ सा उपट्ठितो होति, न यथ भक्खिका संड संड

चारिनी, न मच्छं न मासं सुरं न मरेयं न थुसोदकं पिवामि सो एकागारिको वाहोमि, एकालोपिका, द्वागारिको होमि द्वालोपिको सत्तागारिकोवा होमि सत्तालोपिको, एकाहं व आहारं आहारेमि द्वीहिकं व आहारं आहारेमि-सत्ताहिकम्पि आहारं आहारेमि। इति एयरूपं अद्धमासिकंपि परियाय मत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि...केस्स मस्सुलोचको विहोमि केसयस्सु लोचनानुयोगं अनेयुत्तो-यावउद विन्दुम्हि पिमे दया पच्च पठिताहोति ।माहं सुद्दके पाणे विसमगते संघातं आयादे स्संति।

अर्थ - मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों से किया। न लाया हुआ भोजन लिया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न निमन्त्रण से जाकर भोजन किया, न बर्तन से खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढ़ी में (Within athreshold) खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न मलीन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रहीं थी। न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा खाया, न तुसका मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया, या मैंन दो घर से भोजन लिया दो ग्रास लिये। इस तरह मैंने सात घरों से लिया सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी दिन में एक दफे भोजन किया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। मैंने मस्तक, डाढ़ी-मूछों के केशलोंच किये। उस केशलोंच की क्रिया को चालू रक्खा। मैं एक बूंद पानी पर भी दयालु रहता था। क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो, ऐसा मैं सावधान था।

सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।
नग्नो न च आगीं असीनो एकनापसुतो मुनीति ।।

अर्थ – इस तरह कभी गर्मी कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न (नंगा) रहता था। मैं आग से तापता नहीं था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए उक्त वाक्य आचार्य देवसेन के पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करते हैं। नग्न रहना, अपने हाथों में भोजन करना, अपना सिर, डाढ़ी–मूँछ के बालों का अपने हाथ से लोंच करना, ये समस्त क्रियाएँ जैन साधु की हैं, जो कि प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध करते रहे।

परन्तु महात्मा बुद्ध को नग्न रहना, अपने बालों का अपने हाथों से लोंच करना (उखाड़ना), खड़े होकर अपने हाथों में भोजन करना आदि जैन साधु की चर्या कठिन प्रतीत हुई। अतः वे न तो उस उच्च मार्ग के तपस्वी बनना चाहते थे और न निम्न श्रेणी (नीचे दर्जे) के जीवन गृहस्थाश्रम में फिर जाना चाहते थे। इस कारण उन्होंने मध्यम मार्ग अपने लिये निश्चित किया।

तद्नुसार उन्होंने लाल रंग के रँगे (गेरुआ) वस्त्र (धोती– दुपट्टा) पहन कर, गृहस्थों के घरों से भोजन लाने के लिये पात्र ग्रहण किया। इस तरह वस्त्र–पात्र रखकर अपने नये कल्पित मध्यमार्गी साधुवेश में तपस्या करने लगे। सारांश यह है कि महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में जैन साधु का शिष्य नग्न साधु बनकर तपस्या की थी किन्तु उस नग्न चर्या को कठिन समझकर उन्होंने कुछ दिन पीछे छोड़ कर कुछ वस्त्र–पात्र अपनाकर अपना नया साधुमार्ग बनाया। जिसको वे मध्यम (बीच का) मार्ग समझते थे।

कुछ समय पश्चात् जब भगवान महावीर ने साधुदीक्षा लेकर तपस्या की और तदनन्तर वे सर्वज्ञ हो गये। उस समय की एक घटना का उल्लेख महात्मा बुद्ध के कहे अनुसार बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय में 192–93 पर लिखा है –

एकेमिदाहं महानाम समयं राजगहे बिहरामि गिज्झकूटे पव्वते। तेन खोपन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलियस्से कालसिलायं उब्भत्थका होंति आसन परिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खातिप्पा कटुका वेदना वेदयंति। अथखोहं महानाम सायण्ह समयं पटिसल्लाण बुड्डितो येन इसिगिलि पस्सय काण सिला येन ते निग्गंठा तेन उप संकमिमम उपसंकमिता ते निगंठे एतदवोचमः। किन्हु तुम्हे आवुसो निग्गं उब्भट्टका आसनपट्टिक्खित्ता, ओक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदिययाति एवं बुत्ते महानाम ते निग्गंठा में एतदवोचुं, निगांठो आबु सो नाठपुत्तो सव्वणु सव्वदस्सावी अपरिसेसं ज्ञानदस्सनं परिजानाति चरतो च तिट्ठतो च सुत्तस्स च सततं समितं ज्ञानदस्सनं पक्खुपठितंति, सो एवं आह अत्थि खो वो निग्गंठा पुव्वे पापं कम्मं कतं, तं हमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जेरथ यं पतेत्य एतरिह कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयतिं पापस्य कम्मस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्मानं तपसा कंतिभाभा, नवानं कम्मानं अकारण आयति अनवस्सवो, आयति अनवस्सवा कम्मख्वयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सव्वं दुक्खं निज्जिणणं भविस्सति । तच पन अम्हाकं रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्ति मनाति ।

अर्थात् – (महात्मा बुद्ध कहते हैं कि) हे महानाम ! मैं एक समय राजगृह के

गृद्धकूट पर्वत पर घूम रहा था। तब ऋषिगिरि के समीप कालशिला पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन साधु) आसन छोड़कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में लगे हुए थे। मैं सायंकाल उनके पास गया और उनसे बोला भो निर्ग्रन्थो! तुम आसन छोड़कर उपक्रम कर ऐसी कठिन तपस्या की वेदना का अनुभव क्यों कर रहे हो ? जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे साधु इस तरह बोले कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं वे सब कुछ जानते हैं और देखते हैं।

चलते, ठहरते, सोते, जगते सब हालतों में सदा उनका ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है कि निर्ग्रन्थो ! तुमने पहले पाप कर्म किये हैं उनकी इस कठिन तपस्या में निर्जरा कर डालो। मन वचन काय को रोकने से पाप नहीं बन्धता और तप करने से पुराने पाप सब दूर हो जाते हैं। इस तरह नये पापों के न होने से पुराने पाप सब दूर हो जाते हैं। इस तरह नये पापों के न होने से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों के क्षय से दुःखों का क्षय होता है, दुःखों के नाश से वेदना नष्ट होती है और वेदना के नाश से सब दुःख दूर हो जाते हैं। (तब बुद्ध कहते हैं) यह बात मुझे अच्छी लगती है मेरे मन को ठीक मालूम होती है।

बौद्धशास्त्र मज्झिमनिकाय के ये वाक्य इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि महात्मा बुद्ध भगवान महावीर के उपदेश को ठीक समझते थे भगवान महावीर की सर्वज्ञता का भी उन्हें ज्ञान था।

भगवान महावीर के विषय में दीघनिकाय में प्रथम भाग के 48वें पृष्ठ पर लिखा है

निगण्ठो नातपुत्तो संघी चेव गणी चेव गणाचार्यो च ज्ञातो यसस्सी

तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तस्सू चिर पव्वजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्ता ।

यानी – निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (भगवान महावीर) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन विशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, बहुत मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं। बहुत समय से साधुचर्या करते हैं और अधिक वय वाले हैं।

Nattputta is all knowing and all seeing posessing an infinite Knowledge.
- Majhima Nikaya I.P. 92-93

यानी – मज्झिमनिकाय में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि–

असीम है। नाथ! पुत्र (भगवान महावीर) सब कुछ जानते हैं, समस्त पदार्थों को देखते हैं, उनका ज्ञान इस प्रकार महात्मा बुद्ध स्वयं भगवान महावीर को सर्वज्ञ सर्वदर्शी मानते थे।

मेजर जनरल श्री जे.सी. आर. फालाँग (Foriong. F.A.B.E., F.R.A.S., M.A.I.) आदि सन् 1897 में प्रकाशित अपनी पुस्तक साइन्स आफ कम्पैरेटिव रिलीजन्स में पहली जिल्द के 19वें पृष्ठ पर लिखते हैं –

It is clear that Gotam of early Tibetans, Mangols and Chineses must have been a Jain, for the latter says he lived in the 10th and 11th centuries B.C. Tibetans say he was born in 916, be came a Budha in 881. Preached from his 35th year and died in 831 B.C. which closely corresponds with the saintly Parsva.

यानी – यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन तिब्बती जनता का तथा मंगोल चीनी लोगों का गौतम कोई 'जैन' होना चाहिये क्योंकि चीनी कहते हैं कि वह ईसवी पूर्व 10वीं तथा 11 वीं शताब्दी में था। तिब्बत वाले कहते हैं कि

वह ईसवी सन् से 916 वर्ष पूर्व जन्मा था, 881 (ई. पूर्व) में बुद्ध (पूर्ण ज्ञानी) हुआ।

35वें वर्ष में उसने धर्म-उपदेश दिया तथा ई. पूर्व 831 में उनका निर्वाण हुआ। उनका यह कथन पार्श्वनाथ साधु से लगभग मिल जाता है।

इस प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विद्वान की खोज से यह प्रमाणित होता है कि तिब्बत, चीन, मंगोल में गौतम बुद्ध से पहले भगवान पार्श्वनाथ की मान्यता थी।

डॉ. ए. गिरनाट पेरिस लिखते हैं कि जैनधर्म और बौद्ध की प्राचीनता के संबंध में मुकाबला करने पर जैनधर्म बौद्धधर्म से वास्तव में बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिये जैनधर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है। जैनधर्म एक मौलिक, स्वतंत्र और नियमित सिद्धान्त है। 'भारतीय दर्शन' पृष्ठ नं. 188 पर डॉ. बलदेव उपाध्याय, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी लिखते हैं-

'ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्ध धर्म का उदय जैन धर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध 'निकायों' में अन्तिम जैन तीर्थंकर नाथपुत्त (भगवान महावीर) के नाम सिद्धान्त तथा निर्वाण के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं।'

पूर्ववर्ती 23 बुद्ध

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि गौतम बुद्ध से पहले 23 बुद्ध और हो गये हैं किन्तु उन 23 बुद्धों के नाम धाम आदि का उल्लेख उनमें नहीं पाया जाता।

प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध से पहले जो भगवान ऋषभनाथ, अजितनाथ आदि 23 तीर्थंकर हुए हैं उन्हीं 23 तीर्थंकरों को गौतम 'बुद्ध' शब्द से उच्चारण किया है। दर्शनसार ग्रन्थ के लेखानुसार गौतम बुद्ध ने 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी पिहितास्रव मुनि से दीक्षा ग्रहण की थी और कुछ दिनों तक वे जैन साधु के रूप में (अपने कहे अनुसार) तपस्या करते रहे थे।

अमर कोष ग्रन्थ के 13वें श्लोक में जिन, बुद्ध, अर्हन्त पर्यायवाची शब्द बतलाये गये हैं।

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥13॥

यानी सर्वज्ञ, सुगत, बुद्ध, धर्मराज, तथागत, समन्तभद्र, भगवान, मारजित्, लोकजित् ये सब पर्यायवाची (एक व्यक्ति के) वाचक शब्द हैं।

तदनुसार गौतम बुद्ध से पहले जो 23 बुद्ध होने की वार्ता बौद्ध ग्रन्थों में है उसका अभिप्राय भगवान ऋषभनाथ से लेकर गौतम बुद्ध के दीक्षागुरु (शिष्य परम्परा की अपेक्षा) भगवान पार्श्वनाथ तक 23 बुद्धों या जिनेन्द्रों से है। इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया के 54 वें पृष्ठ पर लिखा है –

'यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध के पहले जैनों के तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं।'

बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति ने जैन तीर्थंकरों की सर्वज्ञता स्वीकार करते हुए न्यायबिन्दु ग्रन्थ के अ. 3 में लिखा है–

यः सर्वज्ञ आप्तो वा सज्योतिर्ज्ञानादिकमु पदिष्टवान्।
यथा ऋषभवर्धमानदिरिति।

यानी – जो सर्वज्ञ या आप्त हुआ है उसी ने ज्ञान आदि का उपदेश दिया है। जैसे ऋषभ वर्धमान (महावीर) आदि।

23 बुद्ध इससे अनुमान है कि ऋषभनाथ आदि 23 तीर्थंकरों को ही माना गया है।

महात्मा यीशु

इस समय जिस ईसाई मत के अनुयायियों की संख्या संसार में सबसे अधिक पाई जाती है, उस मत के प्रवर्तक महात्मा यीशु (जिनको ईसा, क्राइस्ट आदि भी कहते हैं) ने अरब में सबसे पहले अपने मत का प्रचार किया था। यहूदियों का उस समय प्राबल्य था। यहूदियों ने ईसा द्वारा नवीन धर्म का प्रचार होता देख हजरत ईसा को पकड़ कर प्राण–दण्ड दिया। तद्नुसार यीशु को लकड़ी के क्रास पर लटका कर मार दिया गया।

मरते समय ईसा ने ये शब्द कहे कि 'भगवन् ! इन लोगों (मुझे फांसी देने वालों) को क्षमा कर देना क्योंकि ये बेचारे यह नहीं जानते कि वे एक अपराध कर रहे हैं।'

महात्मा यीशु (ईसा) को फाँसी हो जाने के पश्चात् उनके अनुयायियों ने उनका मत यूरोप में बहुत विस्तार से फैलाया। यहूदियों ने ईसा को फाँसी पर चढ़ाया था। इस कारण ईसाई लोग यहूदियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी कारण ईसाइयों ने पिछले समय में यहूदियों का बहुत विनाश करके ईसा की फाँसी का बदला यहूदी जनता से लिया।

वे महात्मा ईसा बाल्यावस्था से ही दयालु तथा संसार से विरक्त थे। जब वे तेरह वर्ष के हुए तब उनके परिवार वालों ने उनका विवाह करना

चाहा किन्तु ईसा ने अपना विवाह न किया और घर से निकल पड़े। तदनन्तर वे ईरानी व्यापारियों के साथ सिन्ध के मार्ग से भारत में चले आये।

इतिहासवेत्ता श्रीयुत पं. सुन्दरलाल जी ने हजरत ईसा और ईसाई धर्म नामक अपनी पुस्तक के 162 वें पृष्ठ पर बतलाया है कि भारत में आकर हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के साथ रहे। जैन साधुओं से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार-विचार की मूल भावना प्राप्त की।

हजरत ईसा ने पैलेस्टाइन में आत्मशुद्धि के लिये जो 40 दिन का उपवास किया था वह पैलस्टाइन प्रख्यात यहूदी विद्वान जाजक्स के मतानुसार भारत का पालीताना जैन क्षेत्र है। पालीताना में ही ईसा ने जैन साधुओं से धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी।

हजरत ईसा बहुत दिनों तक जैन साधुओं के शिष्य रह कर नेपाल चले गये, वहाँ से हिमालय पर्वत के मार्ग से ईरान चले आये। ईरान में आकर उन्होंने धर्म उपदेश देना प्रारम्भ किया। पालीताना के नाम अनुसार ईरान में पैलिस्टाइन नगर बसाया गया जिसे आज फिलस्तीन भी कहते हैं। इसी नगर में ईसा को फाँसी दी गई थी।

हजरत ईसा ने अपने प्रचार में तीन बातें लिखीं 1 आत्म-श्रद्धा या आत्म-विश्वास (Self-reliance) यानी Know thyself-तुम अपनी आत्मा को समझो। 2- विश्व प्रेम (Universal Love) तथा 3- जीव दया। इन तीनों मान्यताओं पर जैनधर्म की छाप है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ही रूपान्तर या प्रकारान्तर महात्मा यीशु का सिद्धान्त है। इस तरह हजरत ईसा पर जैनधर्म और जैन साधुओं का प्रभाव रहा।

हिन्दी विश्वकोष पृ. 128 पर लिखा है कि 'तिब्बत हिमिन मठ में रूसी पर्यटक नोटों-विच ने एक पाली भाषा का ग्रन्थ प्राप्त किया था। उसमें स्पष्ट लिखा है कि यह (ईसा) भारत तथा भोट देश आकर अज्ञातवास में रहा था और उसने जैन बौद्ध साधुओं के साथ साक्षात्कार किया था।'

यहूदी

अरब में तीन धर्मों की स्थापना हुई यहूदी, ईसाई, इस्लाम। इन तीनों में प्राचीन यहूदी धर्म है। इसके संस्थापक हजरत मूसा थे। बाईबिल के प्राचीन पूर्व अंश को यहूदी प्रमाण मानते हैं, बाईबिल का उतना अंश उनका धर्मग्रन्थ है।

हजरत ईसा हजरत मूसा से पीछे हुए हैं, उनका उपदेश बाईबिल का उत्तरार्द्ध अंश है। यहूदी धर्म का ही नवीन परिष्कृत रूप ईसाई धर्म है। इस्लाम धर्म की स्थापना ईसाई मत से लगभग 500 वर्ष पीछे हजरत मुहम्मद द्वारा हुई है।

जिस तरह हजरत ईसा ने भारत में आकर जैन साधुओं से शिक्षा ग्रहण की थी, उसी तरह यहूदी धर्म भी जैनधर्म से प्रभावित है।

इतिहास लेखक मेजर जनरल जे. सी. आर. फलॉग ने Science of comparative religions पुस्तक में पृष्ठ 46 पर लिखा है-

Aristotle saying (about 330 B.C.) that "Jews of Calesyria, were Indian philosophers, called in the East calani and Ikswaku, or sugar cane people and only Jews because they lived in India. These Jews (evidently Eassenes) derived from Indian

wounderful fortitude in life, diet and continence. They were infact Jain Budhist, whom the great Greek confounded with Syrians.

यानी – अरस्तु (यूनानी विद्वान) ने ईसवी सन् से 330 वर्ष पहले कहा है कि कालेसीरिया के निवासी यहूदी भारतीय तत्वज्ञानी थे जिनको पूर्व में कालनी और इक्ष्वाकुवंशी कहते थे (जुदिया में रहने से वे यहूदी कहलाते है) ये यहूदी प्रगट साधु थे जिन्होंने भारतीय तत्वज्ञानियों से आश्चर्यकारक जीवन में धैर्य और संयम की शक्ति प्राप्त की थी। वे वास्तव में जैन बौद्ध थे। जिनको बड़े यूनानियों ने भूल से सीरिया–निवासी मान लिया।''

इस लेख से सिद्ध होता है कि प्राचीन यहूदी वास्तव में भारतीय इक्ष्वाकुवंशी जैन थे, जो जुदिया में रहने के कारण यहूदी कहे जाने लगे थे।

मेजर जनरल जे.सी.आर. फर्लांग ने अपनी इसी पुस्तक के 14 वें पृष्ठ पर लिखा है–

The selection of these short studies has enabled us to Virtually embrace and epitomise all the faiths and religious ideas of the world as well as to lay base the deep-separted taproot from which they sprang, viz the crude yatism Jati or as cetism of thought-full Jatis of Jains, who in man's earliest ages have on all lands spreated themselves from the world and dwelt upon pious motions in lonely forests and mountain caves.

यानी –इस कुछ पठन–पाठन से हमने दुनिया के सब विश्वासों तथा विचारों का विमर्श किया है तथा वे भाव कहाँ से उठे उस मूल (जड़) को ढूँढा है तो कहना होगा कि 'वे भाव विचारशील जैन साधुओं से उठे हैं।' ये जैन साधु अति प्राचीन काल से समस्त पृथ्वी पर रहते थे, जो संसार त्याग

कर पवित्र उद्देश्य से एकान्त वनों व पर्वतों की गुफाओं में रहा करते थे।'' उपर्युक्त ऐतिहासिक कथन से प्रमाणित होता है कि यहूदी धर्म का मूल स्रोत जैनधर्म है।

मक्का में जैन धर्म

अरब देश में मक्का एक प्राचीन नगर है। यहाँ पर महात्मा ईसा से लगभग 500 वर्ष पीछे हजरत मुहम्मद द्वारा इस्लाम धर्म की स्थापना हुई है। इससे पहले यहाँ पर जैनधर्म का अस्तित्व था, ऐसा इतिहास से प्रमाणित होता है।

महा कवि रत्नाकर विरचित कन्नड़ काव्य भरतेश वैभव में लिखा है–

लेक्क विल्लद मंदि गूडि नेगल दोंदु,
टिक्के य नेत्ति गाडियोलु।
मक्क देशद राय वंदु कै मुगि दोंदु,
दिक्किनोलगे सार्दि विंदा।।

यानी – मक्का में जब सम्राट भरत गया तो वहां के राजा लोगों ने भरत का स्वागत किया। भरत भगवान ऋषभनाथ का पुत्र था। यह तो बहुत प्राचीन बात है। अर्वाचीन इतिहास में भी यह उल्लेख पाया जाता है कि हजरत मुहम्मद से पहले मक्का में जैन मन्दिर विद्यमान थे। मक्का में इस्लाम धर्म का प्रचार होने पर उन जैन मन्दिरों की मूर्तियां तोड़ दी गई और उन मन्दिरों को मस्जिद बना लिया गया। इस समय जो वहाँ पर मस्जिदें हैं उनकी बनावट जैन मन्दिरों, बावन चैत्यालयों के अनुरूप है।

'फरग्यूसन शिल्पशास्त्री ने' 'विश्व की दृष्टि में' पुस्तक के पृष्ठ 26 पर लिखा है –

'मक्का' में भी मुहम्मद साहब के पूर्व जैन मन्दिर विद्यमान थे। किन्तु काल की कुटिलता से जब जैन लोग उस देश में न रहे तो महुआ (मधुमति) के दूरदर्शी श्रावक मक्के से वहाँ स्थित मूर्तियाँ ले गये थे। जो अपने नगर में प्रतिष्ठित करा लीं, जो आज भी वहाँ विद्यमान हैं। मक्का की मस्जिदों की बनावट जैन मन्दिर जैसी है।

इस्लाम धर्म केवल मूर्ति-अपूजक ही नहीं है अपितु वह प्रचंड मूर्ति-विध्वंसक भी है। इसी कट्टर सिद्धान्त के कारण मुहम्मद गौरी, औरंगजेब ने भारत में शक्ति प्राप्त करके हिन्दू मन्दिरों तथा हिन्दू देवी-देवताओं को बहुत तोड़ा-फोड़ा। ऐसी धर्मविद्वेषमयी प्रवृत्ति के कारण मक्का में भी जैन मूर्तियों को तोड़ा-फोड़ा गया और मन्दिरों को मस्जिद बना लिया गया।

जैन धर्म की प्राचीनता

संसार में सबसे पहले जिस धर्म का प्रचार हुआ था वह धर्म 'जैन धर्म' है इस बात की साक्षी सभी ऐतिहासिक साधन देते हैं। संसार के प्राणियों को सांसारिक बन्धन से छुड़ाकर मुक्त होने का धर्म-उपदेश सबसे पहले भगवान ऋषभनाथ ने सर्वज्ञ वीतराग हो जाने के अनन्तर दिया।

इस विषय पर विशद प्रकाश डालने के लिये हम यहाँ कुछ विद्वानों के अभिमत देते हैं।

भारत के भूतपूर्व अर्थमंत्री श्री षणमुख चेट्टी लिखते हैं-

'आर्यों के भारत आगमन के पूर्व भारत में जिस द्राविड़ सभ्यता का प्रचार हो रहा था, वह वास्तव में जैन सभ्यता ही थी। जैन समाज में अब भी

द्राविड़ संघ के नाम से एक अलग धार्मिक आम्नाय मिलती है।

बम्बई उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) के न्यायाधीश (जज) श्री रांगलेकर लिखते हैं–

''यह सत्य है कि जैन लोग वेदों को अपना धर्म–ग्रन्थ नहीं मानते। ब्राह्मण धर्म के समान वे मृतक क्रिया–कर्म, श्राद्ध एवं स्वर्गीय व्यक्ति के लिये नैवेद्य अर्पण करने की बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी यह धारणा है कि औरस अथवा दत्तक पुत्र से पिता की आत्मा को कोई भी आत्मिक श्रेय प्राप्त नहीं होता। वे ब्राह्मण धर्म वाले हिन्दुओं से मृत व्यक्ति के शरीर दाह अथवा गाड़ने के सिवाय अन्य क्रियाकांड न करने के कारण पृथक हैं। आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह प्रकट हुआ है कि 'यथार्थ में' ब्राह्मण धर्म के सद्भाव अथवा हिन्दू धर्म रूप में परिवर्तित होने के बहुत पूर्व जैनधर्म इस देश में विद्यमान था। यह सत्य है कि देश में बहुसंख्यक हिन्दुओं के सम्पर्कवश जैनियों में ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित अनेक रीति–रिवाज प्रचलित हो गये है''।

मद्रास हाईकोर्ट के स्थानापन्न चीफ जज श्री कुमार स्वामी शास्त्री लिखते हैं–

आत्मशत्रुओं (काम–मद–मोह–राग, द्वेष आदि) के विजेता होने के कारण उनका नाम–'जिन' (जयति इति जिनः) या 'जिनेश्वर' प्रसिद्ध हुआ था, उनके नाम अनुसार उनके उपदेशित धर्म का नाम 'जैन धर्म' (जिनस्य अयं जैनः) प्रख्यात हुआ।

प्रसिद्ध पौराणिक शास्त्र भागवत इस बात की साक्षी देता है कि 24 अवतारों में मुक्तिमार्ग के उपदेष्टा भगवान ऋषभदेव ही थे। अन्य अवतारों

ने सांसारिक कार्य किये हैं, इसी कारण महात्मा शुकदेव ने अन्य अवतारों को नमस्कार न करके केवल ऋषभ अवतार को ही नमस्कार किया।

इसके साथ ही उस ग्रन्थ से यह भी प्रमाणित होता है कि सबसे पहले धर्म–उपदेशक भगवान ऋषभनाथ ही हुए हैं। योगचर्या की प्रवृति भी भगवान ऋषभदेव से ही प्रारम्भ हुई, वे योगियों के आदि गुरु हैं। जैन–धर्म उनसे ही प्रारम्भ हुआ, इस बात की साक्षी भी भागवत पुराण से मिलती है।

इसका सारांश यह है कि जगत में सबसे पहले जैनधर्म का प्रचार हुआ था।

भारत में पहले जैन संस्कृति ही थी जिसे द्राविड़ सभ्यता भी कहा जाता है। मध्य एशिया से आर्य लोग जब भारत में आये उसके बाद यहाँ वैदिक संस्कृति का प्रचार हुआ।

''आधुनिक शोध ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म से मत–भिन्नता धारण करने वाला उपभेद नहीं है। जैनधर्म का उद्भव एवं इतिहास उन स्मृति शास्त्रों तथा उनकी टीकाओं से बहुत प्राचीन है, जो हिन्दू कानून और रिवाज के लिये प्रमाणित मानी जाती हैं। यथार्थ बात यह है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म के आधार स्तम्भ वेदों को प्रमाण नहीं मानता। यह उन अनेक क्रिया कांडों को अनावश्यक मानता है जिन्हें हिन्दू लोग आवश्यक समझते हैं''।

वेदों के अध्येता, यूरोप के प्रसिद्ध संस्कृत भाषा के विद्वान प्रो. मेक्समूलर लिखते हैं–

''जैनधर्म हिन्दूधर्म से सर्वथा स्वतंत्र है''।

डॉ. एच.डी. संकलिया (एम.ए., पी.एच.डी). लिखते हैं –
सृष्टि की आदि से जैन धर्म प्रचलित है। जैनों का अनेकान्त तो ऐसी चीज है कि उसे सबको मानना पड़ेगा और लोगों ने माना है।

मेजर जनरल जे.जी.आर. फर्लांग एफ. आर.एस.ई. ने दी शार्ट स्टडीज इन साइन्स आफ कम्पैरेटिव रिलीजन (सन् 1897 में प्रकाशित) पुस्तक में लिखा है–

(हिन्दी अनुवाद)

''जैनधर्म का प्रारम्भ काल बतलाना असम्भव है। इस प्रकार भारतवर्ष का सबसे पहला धर्म जैनधर्म ही जान पड़ता है''।

महामहोपाध्याय डॉ. सतीशचन्द्र (एम.ए., पी–एच.डी., सिद्धान्त महोदधि, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज), कलकत्ता लिखते हैं–

''जैनमत तब से प्रचलित हुआ है जबसे संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैनधर्म वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है''।

श्री कन्नोमल जी एम.ए. सेशन जज, जनवरी 1922 के थियोसोफिस्ट पत्र में लिखते हैं–

''जैनधर्म भारत का ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है''।

जर्मनी के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान डॉक्टर हर्मन जेकोबी एम.ए. पी.एच.डी. लिखते हैं–

''जैनधर्म सर्वथा स्वतंत्र धर्म है मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नहीं है और इसलिये भारतवर्ष के तत्वज्ञान का और धर्मपद्धति

का अध्ययन करने वालों के लिये वह बड़े महत्व की वस्तु है''।

स्व. श्री विरुपाक्ष वडियर धर्मभूषण पंडित वेदतीर्थ विद्यानिधि एम. ए. प्रोफेसर संस्कृत कालेज, इन्दौर चित्रमय जगत में लिखते हैं–

''ईर्ष्या द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए भी जैन शासन कभी पराजित न हुआ, सर्वत्र विजयी होता रहा है। अरहन्त देव साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हैं। इसके प्रमाण भी आर्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। अरहन्त परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है''।

महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र जी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, बनारस कहते हैं–

''जैनधर्म बहुत प्राचीन है''।

भारत के प्रधानमंत्री श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी पुस्तक डिस्कवरी ऑफ इंडिया में लिखते हैं–

''हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंश है और जैन तथा बौद्ध यद्यपि पूर्णतया भारतीय हैं, परन्तु हिन्दू नहीं हैं''।

4 अगस्त 1634 के बम्बई समाचार में प्रकाशित हुआ है कि–

''मंगोलिया और अमेरिका में एक समय जैनधर्म का बहुत प्रचार था और जैन मन्दिरों के खण्डहर आज भी प्रचुरता से पाये जाते हैं। यह लिखना अतिशययुक्त न होगा कि पूर्वोक्त प्रदेशों में जैनधर्म का खूब प्रचार था''।

यूरोप मध्य आस्ट्रिया हंगरी में भूकम्प के कारण भूमि पर एकाएक परिवर्तन को अवलोकन करते हुए बुडापेस्ट नगर में एक अंग्रेज के बगीचे में भूमि से महावीर स्वामी की एक मूर्ति हस्तगत हुई है, जो बहुत प्राचीन है। इससे मानना पड़ता है, वहां जैन लोगों की बहुत अच्छी बस्ती थी।

भारत के गणनीय राजनैतिक नेता और अग्रगण्य विद्वान लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने मराठी पत्र केसरी में जैनधर्म के विषय में जो विचार प्रगट किये उसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है –

''जैनधर्म अनादि है। गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे। चौबीस तीर्थंकरों में महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। यह जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये, अहिंसा धर्म व्यापक हुआ। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है। पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु–हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य तथा और ग्रंथों से मिलते हैं। रन्तिदेव नामक राजा ने यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशु–वध हुआ था कि नदी का जल खून से रक्त–वर्ण हो गया था। उसी समय से नदी का नाम चर्मवती प्रसिद्ध है। पशुवध से स्वर्ग मिलता है, इस विषय में उक्त कथा साक्षी है। परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण–धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म को है। इस रीति से ब्राह्मण–धर्म अथवा हिन्दू धर्म को जैनधर्म ने अहिंसा धर्म बनाया है।

आजकल यज्ञों में पशु हिंसा नहीं होती, ब्राह्मण और हिन्दूधर्म में मांसभक्षण और मदिरापान बन्द हो गया सो यह भी जैनधर्म का प्रताप है। जैनधर्म की छाप ब्राह्मण–धर्म पर पड़ी है''।

बम्बई के राज्यपाल डॉक्टर श्रीप्रकाश जी वीर 15–1 में लिखते हैं –

''जैनधर्म और जैन संस्कृति प्राचीन है। जैनधर्म का हमारे किसी–न–किसी विभाग में राष्ट्रीय जीवन पर बहुत प्रभाव है। जैनधर्म के साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा स्वच्छ और सुन्दर है। साहित्य के साथ–साथ विशेष रूप से जैनधर्म ने आकर्षित किया है जो मानव को अपनी ओर खींचता है।

जैनधर्म कला की आर्ट के नमूने देखकर आश्चर्य होता है। जैनधर्म ने सिद्ध कर दिया है कि लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति अहिंसा व्रत से हो सकती है''।

कलकत्ता युनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर डॉक्टर कालीदास जी नाग लिखते हैं –

''जैनधर्म किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय, सार्वभौमिक तथा लोकप्रिय धर्म है। जैन तीर्थंकरों की महान आत्माओं ने संसार के राज्यों को जीतने की चिन्ता नहीं की थी। राज्यों को जीतना कुछ ज्यादा कठिन नहीं है। जैन तीर्थंकरों का ध्येय राज्य जीतने का नहीं बल्कि स्वयं पर विजय प्राप्त करने का है। यही एक महान ध्येय है, और मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है। लड़ाइयों से कुछ देर के लिये शत्रु दब जाता है, दुश्मनी का नाश नहीं होता। हिंसक युद्धों से संसार का कल्याण नहीं होता। यदि किसी ने आज महान परिवर्तन करके दिखाया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त ही है। अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति संसार की समस्त खोजों और प्राप्तियों से महान है। मनुष्य का स्वभाव है नीचे की ओर जाना। परन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम यह बताया कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाता है''।

आज के संसार में सबका यही मत है कि अहिंसा सिद्धान्त का महात्मा बुद्ध ने आज से 2551 वर्ष पहले प्रचार किया। किसी इतिहास के जानने वाले को इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं है कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पहले एक नहीं बल्कि अनेक जैन तीर्थंकरों ने इस अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया है। जैनधर्म बुद्धधर्म से करोड़ों वर्ष पहले का है। मैंने प्राचीन

जैन क्षेत्रों और शिलालेखों के स्लाइड्ज तैयार करके इस बात को प्रमाणित करने का यत्न किया है कि जैनधर्म प्राचीन धर्म है, जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया।

इस तरह जैनधर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। अतः जितने भी प्रचलित जैनेतर धर्म हैं। वे थोड़े-बहुत अंश में जैन धर्म से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

धर्म का वास्तविक रूप "अहिंसा" है जो कि विश्व का मूल आधार है। अहिंसा के बिना कोई भी प्राणी, वह चाहे मनुष्य हो या पशु-पक्षी हो, जीवित नहीं रह सकता। उस अहिंसा का विकास स्पष्टीकरण जैसा जैनधर्म में मिलता है वैसा अन्य किसी धर्म में नहीं मिलता।

अतः सिद्धान्त की दृष्टि से भी जैन धर्म विश्व का सर्व हितंकर व्यापक धर्म है।

प्राकृत भाषा

यह बात पहले लिखी गई है कि कर्मयुग (कर्मभूमि) के आदि-प्रवर्तक भगवान ऋषभनाथ हुए हैं, उन्होंने सबसे पहले जनता को कृषि, व्यापार, शिल्प आदि कलाएँ सिखलाई और उन्हीं ने अक्षर-लिपि तथा अंकलिपि की शिक्षा दी। अक्षर लिपि उन्होने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को सिखाई थी, अतः उस अक्षर लिपि का नाम 'ब्राह्मीलिपि' प्रचलित हुआ। ब्राह्मीलिपि संसार की सबसे प्राचीन लिपि मानी गई है।

भगवान ऋषभनाथ के समय समस्त जनता की भाषा एक ही थी, परन्तु कालान्तर में विभिन्न देशों की अपेक्षा वह भाषा अनेक रूप की हो

गई। क्योंकि भिन्न–भिन्न देशों का वातावरण भिन्न–भिन्न प्रकार का होता है, उसका प्रभाव, रहन–सहन, पहनावा, उड़ाव तथा शब्द–उच्चारण पर भी पड़ा करता है, इस कारण प्रारम्भ में मनुष्यों की एक भाषा होती हुई भी विभिन्न देशों में वह भाषा कालान्तर में एकसी न रह सकी।

भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों का उपदेश समस्त जनता के समझ में आ जाने वाली भाषा में हुआ करता था। उनके उपदेश को सुनने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनकी हितमयी वाणी को सुगमता से हृदयंगम कर लेता था। अत: उनकी भाषा प्राकृत यानी स्वाभाविक हुआ करती थी।

जैनों का प्रसिद्ध सर्वोत्तम मन्त्र अनादि समय का प्रचलित मन्त्र है, उस मन्त्र में किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। उसमें पूज्य आराध्य अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु, इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। यह अनादिकालीन मन्त्र उसी जनसाधारण की प्राकृत भाषा में है।

णमो अरहंताणं (अर्हन्तों को नमस्कार)
णमो सिद्धाणं (सिद्धों को नमस्कार)
णमो आइरियाणं (आचार्यों को नमस्कार)
णमो उवज्झायाणं (उपाध्यायों को नमस्कार)
णमो लोए सव्वसाहूणं (जगत् के सब साधुओं को नमस्कार)

इस तरह यह पंच पद रूप णमोकार मंत्र असंख्य वर्षों से प्रचलित अनादिकालीन मन्त्र है। इस मन्त्र की भाषा प्राकृत है। इस मन्त्र की भाषा से प्राकृत भाषा की प्राचीनता आँकी जा सकती है। क्योंकि भगवान महावीर से भी पहले 23 तीर्थंकरों के समय भी यह मन्त्र इसी रूप में प्रचलित

रहा है।

भगवान महावीर के समय में भी भारत की जन-भाषा प्राकृत ही थी। भाषा-अभिज्ञ विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में प्राचीन समय में जो जनसाधारण की भाषा प्रचलित थी, उसका नाम 'प्राकृत' है।

प्राकृत शब्द का अर्थ 'स्वाभाविक' है। यानी बिना किसी परिश्रम या व्याकरण आदि की कठिनाई के स्वाभाविक रूप से साधारण जनता जिस भाषा को बोलती हो उसे प्राकृत भाषा (प्रकृति यानी-स्वभाव से बोलचाल में आई हुई) कहते हैं। प्रकृति और स्वभाव; ये दोनों शब्द पर्यायवाची (एक-अर्थ-वाचक) हैं। अतः अपने अर्थानुसार प्राचीन भारत में जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी।

यह प्राकृत भाषा विभिन्न प्रान्तों तथा देशों के अनुसार कुछ परिवर्तित हुई, अतः मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आवन्ती आदि नाम भी उस प्राकृत भाषा के रक्खे गये। जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखाएं होती हैं उसी तरह एक ही प्राकृत भाषा के विभिन्न देशों के अनुसार उसके नाम विभिन्न पड़ गये और उसके रूप तथा उच्चारण में भी कुछ थोड़ा अन्तर आ गया।

आज से 2521 वर्ष पहले जैनधर्म के 24 तीर्थंकर भगवान महावीर का उपदेश समस्त स्त्री-पुरुषों को सुगमता से समझ में आने वाली प्राकृत भाषा में हुआ जिसमें मागधी प्राकृत की मुख्यता थी। भगवान महावीर की वाणी 'अर्द्धमागधी' भाषामयी थी, उस वाणी में मागधी भाषा तथा अन्य समस्त जीवों के समझ लेने योग्य शब्द विद्यमान थे।

महात्मा बुद्ध ने भी अपना उपदेश उसी प्राकृत भाषा में जनसाधारण को दिया, उसका नाम 'पाली' प्रसिद्ध हुआ। त्रिपिटक बौद्ध ग्रन्थ उसी

पाली नामक प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

भगवान महावीर के निर्वाण हो जाने पर भगवान महावीर का तात्विक उपदेश मौखिक रूप से उनकी शिष्य परम्परा (ऋषि परम्परा) द्वारा प्राकृत भाषा में चलता रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के 500 वर्ष पीछे जैन ऋषियों ने मैखिक पठन-पाठन के साथ-साथ ग्रन्थ-रचना का कोर्स भी प्रारम्भ किया। सबसे पहला ग्रंथ श्री गुणधर आचार्य ने कपाय पाहड और श्री पुष्पदन्त भूतबलि ने षट्खण्ड आगम प्राकृत भाषा में ही बनाया।

भाषा का संस्कार

जन साधारण जो कुछ परस्पर बातचीत करता है, वह भाषा कहलाती है। उस जन-साधारण की भाषा के प्रयोग के लिए नियम बना देना व्याकरण है, जिससे उस भाषा में अशुद्धियाँ, त्रुटियों न घुसने पावें। यानी-भाषा की शुद्धि या संस्कार के लिये व्याकरण बनाया जाता है। अतः शुद्ध भाषा-भाषी शिक्षित व्यक्तियों को व्याकरण की निर्धारित रेखाओं में लिखना-बोलना पड़ता है।

यह सब कुछ है परन्तु जनसाधारण यदि किसी अशुद्ध उच्चारण को भी व्यापक रूप से अपना लेता है, तब उस अशुद्धि को भी शुद्ध घोषित करने के लिये व्याकरण को बाध्य होना पड़ता है, और उस घोषणा के अनुसार नया नियम व्याकरण को बनाना पड़ता है।

एक महीना वैदिक ऋषि का नाम जनता ने 'विश्वामित्र' रख दिया। किन्तु संस्कृत की सन्धि के अनुसार (विश्व+अमित्र=विश्वामित्र) विश्वामित्र शब्द का अर्थ समस्त जगत का शत्रु होता है जो कि उस ऋषि को अनादर सूचक अपशब्द (गाली) समान है अतः संस्कृत व्याकरणकार

पाणिनि को विश्वामित्र शब्द का अर्थ 'जगत का मित्र' ठहराने के लिये यानी जनता के अशुद्ध उच्चारण को शुद्ध पोषित करने के लिये एक नया सूत्र बनाना पड़ा।

शेर सदा अन्य निर्बल प्राणियों की हिंसा किया करता है अतः मूल धातु के अनुसार उसका नाम 'हिंस' होना चाहिये, परन्तु जनता उसको 'सिंह' शब्द से उच्चारण कर रही थी, इस कारण व्याकरण को यह शब्द 'हिंस' के बजाय उलटे रूप में 'सिंह' मानने के लिये बाध्य होना पड़ा, इसके लिये उसने लिखा 'सिंहे वर्णविपर्ययः।'

पृषत्+उदर इन दो शब्दों को मिलकर सन्धि के नियमों के अनुसार 'पृषतुदर' (पतली कमर वाला था पतले पेट वाला) शुद्ध रूप में होना चाहिये, परन्तु जनता ने 'पृषोदर' शब्द अपना लिया तब व्याकरण को जनता की इन अशुद्धि को ही शुद्ध ठहराने के लिये नया नियम बनाना पड़ा।

इस तरह व्याकरण को भी जनता की व्यापक बोलचाल की ओर चलने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

ऋक्, यजुः, साम और अथर्व; ये चार वेद विभिन्न वैदिक ऋषियों द्वारा बनाये गये संस्कृत गीतों का संग्रह रूप हैं। जिन्हें वेदमंत्र कहा जाता है। उन वेदमन्त्रों की भाषा संस्कृत व्याकरण के अनुसार नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संस्कृत व्याकरण के निर्धारित नियमों के अनुसार वे वेद-मन्त्र शुद्ध नहीं हैं। परन्तु चूंकि वे जनता में श्रद्धा आदर के साथ अपना लिये गये, अतः पाणिनीय व्याकरण ने वेदों की संस्कृत को सही ठहराने के लिये कुछ अपवाद रूप नियम बना दिये।

हिन्दी में प्रचलित शब्द 'उपरोक्त' गलत (अशुद्ध) है उसका शुद्ध रूप

'उपर्युक्त' है, परन्तु जनता द्वारा अपना लेने के कारण 'उपरोक्त' शब्द भी चल पड़ा।

अंग्रेजी भाषा में तो हजारों शब्दों के उच्चारण कुछ हैं और उनमें प्रयुक्त अक्षर कुछ हैं, अंग्रेजी व्याकरण उनके लिये कोई भी नियम नहीं बना सका। परन्तु क्योंकि अंग्रेजी भाषी जनता उन अनियमित शब्दों के अक्षरों को अपनाये हुए है अतः उस अनियमित उच्चारण तथा लेखन को सही (शुद्ध) माना जाता है।

इस तरह भाषा पर जिस व्याकरण के द्वारा संस्कार किया जाता है, वह व्याकरण भी जनता की प्रवृत्ति के सामने झुक कर अशुद्धि को भी 'संस्कार' का नाम दे डालता है।

प्राकृत भाषा जनसाधारण की भाषा थी किन्तु वैदिक विद्वानों को वह पसंद न आई अतः उन्होंने उस प्राकृत भाषा को वेदमंत्रों की भाषा में बदलने का उद्योग किया तद्नुसार व्याकरण बनाकर उस प्राकृत भाषा का नया संस्कार कर डाला। अपने प्रयत्न अनुसार उसका नया नाम भी 'संस्कृत' रख दिया। उस नवीन भाषा में (संस्कृत में) सब तरह के ग्रन्थ बना डाले, उस महत्वपूर्ण साहित्य के कारण जनता का उस ओर आकर्षण हुआ और उसने उस साहित्यिक नवीन भाषा (संस्कृत) को भी आदत और रुचि के साथ अपना लिया।

इस तरह प्राचीन जनसाधारण की भाषा प्राकृत का रूप बदल कर संस्कृत भाषा का नया ढाँचा बन गया। रूद्रट–विरचित काव्यालंकार की व्याख्या करते हुए नमिसाधु ने लिखा है–

प्राकृतेति सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादेरनाहितसंस्कारः सहजो

वचनव्यापारः प्रकृतिः । तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् ।'आरिसवयणे सिद्धं देवाणां अद्धमग्गहा वाणी इत्यादिवचनाद्वा प्राक्पूर्व कृतं प्राकृतं वलमहिलादिसुवोधं सकलभाषानिवन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजजलमिवैकस्वरूपं, तदेव च देशविशेषात् संस्कार करणाच्च समासादितविशेषं सतु संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं, तदनु संस्कृतादीनि पाणिन्यादि व्याकरणोदित-शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यतेक् । 2-12

अर्थात्-जो समस्त स्त्री-पुरुषों की व्याकरण आदि के संस्कार से रहित स्वाभाविक बोलचाल की क्रिया है, उसे प्रकृति कहते हैं, उस प्रकृति से उत्पन्न हुई अथवा उस प्रकृति रूप ही जो भाषा है वह प्राकृत भाषा है। 'आर्ष वचन से सिद्ध है कि देवों की (तीर्थकर की) वाणी अर्द्धमागधी भाषा थी। इत्यादि प्रमाण से यह बात प्रमाणित होती है कि जो भाषा पुरातन समय में संस्कृत भाषा से पहले प्रयोग में आती रही, जिसको बालक, स्वी आदि अच्छी तरह समझते रहे, और जो समस्त भाषाओं का मूल कारण रही, उसका नाम 'प्राक्कृत' (पहले बनी भाषा) है। जो कि बादलों से बरसे हुए जल के समान पहले एक ही रूप थी किन्तु बाद में वही प्राकृत भाषा देशों की विशेषता से तथा विशेष संस्कार होने से 'संस्कृत' आदि उत्तर भेदों को प्राप्त हुई। इसी कारण शास्त्रकार (रुद्रट) ने प्राकृत भाषा को पहले निर्दिष्ट किया है। तदनन्तर पाणिनि आदि वैयाकरणों के द्वारा व्याकरण के संस्कार से जो भाषा बनी, वह 'संस्कृत' भाषा है। रुद्रट के जिस श्लोक की व्याख्या में उक्त व्याख्या नमिसाधु ने लिखी है वह श्लोक निम्नलिखित है-

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥

अर्थ प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पिशाच भाषा, सूरसेनी और छठी देशविशेष से अपभ्रंश भाषा है।

इसी श्लोक की टीका करते हुए नमिसाधु ने प्राकृत भाषा की प्रथमता या प्राचीनता सिद्ध की है।

भारतीय विद्या निवन्ध संग्रह में लिखा है तत्र सकलवाल – गौपांगनाहृदय संग्राही निखिलजगज्जन्तूनां शब्दशास्त्राकृत-विशेषसंस्कारः सहजो बचनव्यापारः समस्तेतरभाषाविशेषाणां मूलकारत्वप्रकृतिरिव प्रकृतिः। तत्र भवा सैव वा प्राकृता। सा पुनर्मेचनिर्मुक्तजलपरम्परेव एकरूपापि तत्तद्देशादिविशेषात् संस्कारकरणाच्च भेदान्तरानाप्नोति। अत इयमेव शूरसेनवास्तव्य- जनता किंचिदारोपितविशेषलक्षणा भाषा शौरसेनी भण्यते (पृ. 223)

अर्थ- समस्त बाल गोपाल स्त्रियों को रुचिकर, व्याकरण के संस्कार से रहित, समस्त संसार के मनुष्यों की जो स्वाभाविक सरल बोल-चाल वाली भाषा है, जो कि समस्त दूसरी भाषाओं की मूल कारण होने से प्रकृति के समान स्वयं प्रकृति है, उसी प्रकृति से बनी अथवा वही प्रकृति 'प्राकृत भाषा' है। वह बादल से गिरे हुए जल के समान एक रूप है किन्तु भिन्न-भिन्न देशों के सम्बन्ध से तथा व्याकरण आदि के संस्कार से वह प्राकृत भाषा संस्कृत आदि अनेक रूप हो गई है। शूरसेन देश निवासी जनता द्वारा आरोपित कुछ विशेष लक्षणों से वही प्राकृत भाषा शौरसेनी कहलाती है। श्री हण्टर सा. ने हिन्दुस्तान के संक्षिप्त इतिहास में लिखा है-

भारत की मूल भाषा प्राकृत है और प्राकृत भाषा प्राचीन व सब भाषाओं की जननी है।

उस प्राकृत भाषा का रूप कालान्तर में विभिन्न देशों के अनुसार अनेक प्रकार का चन गया। पं. वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में उस के चार भेद बतलाये हैं 1. शौरसेनी, 2. मागधी, 3. पैशाची, 4. महाराष्ट्री।

रूद्रट ने 7 भेद गिनाये हैं 1 मागधी, 2. आवन्ती, 3. प्राच्या, 4. शूरसेनी, 5. अर्द्धमागधी, 6. वाल्हीकी, 7. दाक्षिणात्य।

मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में मूलभेद चार और उत्तर भेद 16 माने हैं। तदनुसार– 1. भाषा, 2. विभाषा, 3. अपभ्रंश और 4. पैशाची ये मूल भेद बतलाये हैं।

1. महाराष्ट्री, 2. शौरसेनी, 3. प्राची, 4. आवन्ती, 5. मागधी, 6. शकारी, 7. चांडाली, 8. शाबरी, 9. आभीरिका, 10. टाक्की, 11. नागर, 12. ब्राचड, 13. उपनागर, 14. कैकय, 15. शौरसेनी, 16. पाञ्चाल। ये 16 अवान्तर भेद लिखे हैं।

इनमें से प्रारम्भ के 5 भेद प्राकृत के, 6 से 10 तक विभाषा प्राकृत के, 11 से 13 अपभ्रंश के और 14 से 16 तक पैशाची के भेद बताये हैं।

प्राकृतसूत्रवृत्ति में त्रिविक्रम ने प्राकृत भाषा के 6 भेद लिखे हैं–

1. शौरसेनी, 2. मागधी, 3. पैशाची, 4. महाराट्री, 5. चूलिका पैशाची और 6. अपभ्रंश।

ईसवी सन् से पूर्व तीसरी शताब्दी में लिखे गये मौर्य–सप्राद् अशोकवर्द्धन के जो अनेक शिलालेख पाये जाते हैं उनकी भाषा प्राकृत है।

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि भारतवासियों की पुरातन भाषा प्राकृत है।

प्राकृत भाषा का संस्कार करके जो भाषा बनाई गई उसका नाम 'संस्कृत' रक्खा गया। 'संस्कृत' शब्द का अर्थ संस्कार किया हुआ है। जिस भाषा का संस्कार करके नवीन भाषा (संस्कृत) बनाई गई वह भाषा प्राकृत थी।

संस्कृत भाषा का व्याकरण बना तथा संस्कृत भाषा में तार्किक आदि समस्त विषयों के ग्रन्थ बनाये गये, इस तरह संस्कृत भाषा का बहुत विकास हुआ।

वैदिक सम्प्रदाय ने केबल संस्कृत भाषा को अपनाया, अतः किसी भी वैदिक विद्वान का चनाया हुआ कोई प्राकृत भाषा का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। किन्तु जैन सम्प्रदाय ने किसी भी भाषा से अरुचि प्रगट नहीं की, अतएव जैन विद्वानों ने भारतीय मूल भाषा प्राकृत में भी विपुल एवं महत्वपूर्ण साहित्य की रचना की तथा संस्कृत भाषा में भी व्याकरण, साहित्य, तर्क, छन्द, अलंकार, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, गणित आदि समस्त विषयों पर अनुपम ग्रन्थ रचना की।

दसवीं शताब्दी के महान विद्वान ऋषि श्री वीरसेन आचार्य ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में लगभग पौने दो लाख श्लोक प्रमाण धवल, जयधवल, महाधवल नामक सैद्धांतिक व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण किया। संसार में इतना विशाल साहित्य अब तक किसी भी विद्वान ने किसी भी भाषा में नहीं बनाया।

हाँ, तो प्राकृत भाषा को संस्कार करके संस्कृत भाषा बनाई गई।

संस्कृत भाषा का उपयोग साहित्य निर्माण के लिये तो होता रहा किन्तु वह जनासाधारण की बोलचाल की भाषा न बन सकी, क्योकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार शुद्ध संस्कृत भाषा का सुगमता के साथ बोलना जैसा इस समय कठिन प्रतीत्त होता है, ऐसा ही प्राचीन समय में भी रहा। संस्कृत भाषा के विद्वान ही परस्पर संस्कृत भाषा में बोल सकते थे, जनसाधारण संस्कृत भाषा में नहीं बोल सकता था। अतः जनसाधारण की भाषा प्राकृत भाषा ही बनी रही।

कालक्रम से प्राकृत भाषा का रूप स्खलित हुआ और वह बदल कर अपभ्रंश भाषा के रूप में हो गई। महाराट्र, पांचाल (पंजाब), शूरसेन आदि देशों में प्राकृत का विभिन्न रूप हो ही गया था। अपभ्रंश भाषा में भी जैन विद्वानों ने अनेक महान ग्रन्थों की रचना की।

अपभ्रंश भाषा के आद्य कवि स्वयम्भू हैं, उन्होने पउम चरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमि चरिउ, स्वयंभू छन्द, वे चार ग्रन्थ बनाये हैं।

अन्तर्राट्रीय प्रख्यात विद्वान श्री राहुल सांकृत्यायन अपने 'हिन्दी काव्य धारा' ग्रन्थ में लिखते हैं-

जैनों ने अपभ्रंश - साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में सबसे अधिक काम किया। वह ब्राह्मणों की तरह संस्कृत के अंध भक्त भी नहीं थे।

अतएव जैनों ने देश-भाषा में कथा-साहित्य की सृष्टि की, जिसके कारण स्वयम्भू और पुष्पदन्त जैसे अनमोल अद्वितीय कविरत्न हमें मिले। उस साहित्य की रक्षा के लिये हम और हमारी अगली पीढ़ियाँ उन जैन नरनारियों की हमेशा कृतज्ञ रहेंगी, जिन्होने इन अमूल्य निधियों को नष्ट

होने से बचाया।

''स्वयम्भू – हमारे इसी युग में नहीं हिन्दी कविता के पाँचों युगों– 1. सिद्ध सामन्तयुग, 2. सूफी युग, 3. भक्त युग, 4. दर्बारी युग, 5. नवजागरण युग के जितने कवियों को हमने यहाँ संगृहीत किया है, उनमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयम्भू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्रोध दोनों होते हैं कि लोगों ने कैसे ऐसे महान कवि को भुला देना चाहा। स्वयम्भू के रामायण और महाभारत या (कृष्ण–चरित्र) दोनों ही विशाल काव्य हैं, आदि।''

भारतवर्ष के प्रख्यात महान कवि तुलसीदास लिखते हैं–

जे प्राकृत कवि परम सयाने,
भायें जिन हरि चरित बखाने ।
भये जे अहहिं जे होहहिं आगे,
प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे।

अर्थ – प्राकृत (अपभ्रंश) के जो चतुर कवि हुए हैं, जिन्होंने रामदेव का चरित बनाया है, वे हुए हैं, और आगे होंगे, मैं (तुलसीदास) उन सबकी कपट रहित होकर वन्दना करता हूँ।

जैन विद्वानों ने आध्यात्मिक, पौराणिक, कथा, स्तुति, उपदेश आदि विभिन्न विषयों पर लगभग 138 ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिखे हैं। अपभ्रंश भाषा में प्राचीन (मैथिली, ब्रजभाषा) हिन्दी का उद्गम हुआ। जैन विद्वानों ने इस भाषा में बहुत–सा महत्वपूर्ण साहित्य लिखा है। फिर कुछ समय पीछे ब्रजभाषा खड़ी हिन्दी के रूप में हो गई। नवीन हिंदी (खड़ी भाषा) में भी

जैन साहित्य पर्याप्त बना है।

इस तरह प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतम मूल भाषा है। प्राकृत से संस्कृत भाषा तथा अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति हुई। अपभ्रंश से हिन्दी भाषा की उत्पत्ति हुई है। हिन्दी में अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषा को अपनाया गया है। इस तरह प्राकृत भाषा अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषा की माता और हिन्दी मातामही (नानी) प्रमाणित होती है।

प्रकृतिः संस्कृतम्

प्राकृत व्याकरण का प्रारम्भ करते हुए जो 'प्रकृति संस्कृतम्' यानी– प्रकृति संस्कृत भाषा है लिखा गया है उसका अभिप्राय यही हो सकता है कि प्रकृति प्रत्यय आदि रूप व्याकरण प्रथम संस्कृत भाषा में बनाया गया। संस्कृत भाषा का व्याकरण बन जाने के पश्चात् प्राकृत भाषा का व्याकरण बनाया गया। इस तरह व्याकरण की अपेक्षा संस्कृत को प्राकृत से पहले माना गया।

वैसे भाषा की दृष्टि से प्राकृत भाषा ही प्रकृति है क्योकि प्राकृत भाषा का संस्कार (परिष्कार, सम्भार) होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई है। अतः प्राकृत भाषा मूल रूप है, संस्कृत भाषा का उद्गम स्थल है, संस्कृत भाषा उत्तर रूप है।

प्राकृत भाषा के शब्दों का अनुकरण न केवल संस्कृत भाषा में हुआ है अपितु विदेशी भाषाओं में भी हुआ है। उदाहरण के लिये यहाँ दो शब्द दिये जाते हैं –

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी	आवेस्ता	यूनानी
पटेर	मटेर	पिदु	पितृ	पिता
पितर	मादु	मातृ	माता	मातर

लेटिन	अंग्रेजी	तुर्की	चीन	रूस
पतेर	फादर	पातर	–	–
मतेर	मदर	मातर	मावो	मात्य

प्राकृत और हिन्दी के मिलते-जुलते शब्द –

प्राकृत	हिन्दी	प्राकृत	हिन्दी
अग्गइ	आगे	हल्लइ	हिलता है
अज्जु	आज	गिल्ल	गीला
आवसे	अवश्य	साडी	साड़ी
डोरा	डोरा	ढंकइ	ढांकता है
पाहुण	पाहुना	डोलइ	डोलता है
पुक्कार	पुकार	कसेरू	कचरा
कहाणी	कहानी	सयाणु	सयाना
हुयउ	हुआ	सिप्पी	सीप
पत्तल	पतला	सप्प	साँप
तलाउ	तलाब	खंड	खाँड
चंदोव	चंदोआ	थालु	थाल

भग्गा	भागे	लड्डु	लड्डू
घड	घड़ा	कन्न	कान
चुक्कइ	चूकता है	चक्खइ	चखता है

प्राकृत भाषा में 'उवज्झाय' शब्द है जिसका अर्थ 'पाठक या पढ़ाने वाला है। उवज्झाय शब्द का संस्कृत में रूपान्तर 'उपाध्याय' हुआ। महाराष्ट, में यह शब्द 'उपाध्ये' बन गया। कन्नड में उपद्या', राजस्थान में 'उपाथा', पंजाब में 'पाधा' कोंकण में 'पाधे' हो गया। अब यह शब्द अनेक विद्वानों द्वारा केवल 'पा' रूप में व्यवहृत होता है।'

पादरी (Preacher) भी 'उवज्झाय' शब्द का बदला हुआ रूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि पहले समस्त जनता की एक भाषा थी, उसी का विभिन्न प्रान्तों तथा विभिन्न देशों में रूपान्तर हो गया।

जैसे कि सप्ताह के रविवार, सोमवार आदि सात दिनों को सण्डे (Sunday), मण्डे (Monday) आदि परिवर्तित शब्दों से अपनाया गया। सन् डे; मन् (मून) डे का अर्थ भी रविवार, सोमवार ही है। वर्ष के 12 ही मास सब देशों में माने गये हैं।

डॉ. भोलाशंकर व्यास एम.ए. संस्कृत भाषा शास्त्रीय अध्ययन में लिखते हैं।

इन भाषाओं की इस प्रकार की समानताएँ इस परिणाम की ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषा से उत्पन्न हुई हैं।

इन भाषाओं की समानता देखकर अनुमान होता है कि प्रारम्भ में इसके बोलने वाले एक ही स्थान पर रहते होगे।

कन्नड़ भाषा में भी जैन विद्वानों ने महान साहित्य निर्माण किया है।

कन्नड़ साहित्य के 60 कवि हुए हैं उनमें से 50 कवि जैन हैं। श्री रा.ब. नरसिंहाचारी एम.ए. 'विश्व की दृष्टि' में 23वें पृष्ठ पर लिखते हैं –

कन्नड़ भाषा के आद्य कवि जैन हैं। अब तक उपलब्ध प्राचीन और उत्कृष्ट रचनाओं का श्रेय जैनों को है।

इस तरह जैन ऋषियों तथा जैन विद्वानों ने जैसे भारत की सबसे प्राचीन भाषा प्राकृत का आदर किया, उसमें विपुल साहित्य–रचना की, इसी तरह संस्कृत भाषा का सम्मान किया संस्कृत भाषा में समस्त विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे तथा अपभ्रंश भाषा में और कन्नड़ में भी पठनीय साहित्य निर्माण किया। कभी किसी भाषा से अरुचि या घृणा प्रगट नहीं की।

सत्य जानने की पद्धति

लोकत्रयैकनेत्रं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुर विधानम् ।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

– पुरुषार्थ–सिद्धिउपाय।

अर्थ नेत्र के समान जो त्रिलोकवर्ती पदार्थों को जानने वाला है, जन्मान्ध पुरुषों की हाथी के विषय में की गई अधूरी कल्पनाओं को दूर करनेवाला है, समस्त नयों (एकांगी ज्ञानों) के पारस्परिक विरोध को दूर करनेवाला है, ऐसे अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिस तरह जैनधर्म का उदयकाल सबसे पुरातन है, जिस तरह उसने विश्व कल्याण के लिये अहिंसा सिद्धान्त को आचरणीय बतलाया है, उसी तरह मत–मतान्तरों के पारस्परिक वाद–विवादों को दूर करने के लिये उसने अनेकान्तवाद वा स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुपम प्रतिपादन किया है।

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण (पौइन्ट ऑफ न्यू) से पदार्थों को जानकर मत-मतान्तर अपने एकांगी ज्ञान को ही पूर्ण सत्य ज्ञान मानकर दूसरे मत के सिद्धान्त को असत्य बतलाते हुए परस्पर वाद-विवाद करते हैं। जिस तरह एक गांव में जन्म से अन्धे 6 पुरुष रहते थे, नेत्रों में ज्योति न होने से वे सब वस्तुओं को अपने हाथों से टटोल कर जाना करते थे, कि 'अमुक वस्तु ऐसी होती है।

एक दिन उनके गाँव में एक हाथी आया। गाँव वाले स्त्री पुरुष बच्चे हाथी को देखने के लिये दौड़े, वे अन्धे भी हाथी का आकार प्रकार (शक्ल सूरत) जानने की इच्छा से वहाँ पहुँचे। गाँव वालों ने अपनी आँखों से हाथी देखकर जान लिया कि वह बहुत बड़ा अद्भुत आकार (विचित्र शक्ल) का चौपाया पशु है। वे अन्धे उस हाथी का शरीर हाथों से छूकर जानने लगे।

एक अन्धे ने हाथी का कान पकड़ा उसने समझ लिया कि हाथी अनाज फटककर साफ करने वाले सूप के समान होता है। दूसरे ने हाथी का दाँत जा पकड़ा, उसने समझ लिया कि हाथी का आकार दीवाल में गड़ी हुई बहुत बड़ी खूँटी के समान होता है।

तीसरे ने हाथी की सूँड जा टटोली तो उसने समझ लिया कि हाथी केले के पेड़ की तरह होता है। चौथे ने हाथी का पैर हाथों से छुआ तो वह समझ बैठा कि हाथी खम्भे के समान होता है। पाँचवें ने उसके पेट पर हाथ फेरा तो उसने समझा कि हाथी भैंस के पेट की तरह बड़ा लम्बा चौड़ा होता है और छठे अन्धे ने हाथी की पूँछ अपने हाथों से जा पकडी तो उसकी विचार धारा में यह बात समा गई कि हाथी का आकार डंडे के समान होता है।

हाथी तो थोड़ी देर पीछे वहाँ से चला गया परन्तु उन अन्धों के हृदय में

अपने भिन्न-भिन्न तरह के आकार पैदा कर गया। अतः हाथी चले जाने पर वे अन्धे आपस में बातें करते हुए अपने-अपने हाथों से टटोल कर जाने हुए आकार प्रकार को ही हाथी का पूरा आकार ठीक समझकर दूसरे अन्धों की जानी हुई हाथी की शक्ल को असत्य समझने लगे। इसलिये उनमें से कोई कहता कि हाथी सूप के समान होता है, दूसरा कहता कि तू असत्य बोलता है हाथी तो बड़ी खूँटी की तरह होता है, तीसरे ने कहा कि तुम दोनों झूठ बोलते हो हाथी तो केले के पेड़ की तरह होता है। चौथा बोला कि तुम तीनों का कहना गलत है हाथी तो लकड़ी के खम्भे के समान होता है पाँचवां बोला कि तुम चारों असत्य कहते हो हाथी की सूरत भैंस के पेट की तरह होती है। छठा अन्धा बोला कि तुम पाँचों झूठे हो, हाथी तो डंडे की तरह होता है।

इस तरह अपनी बात को ही सत्य समझ कर वे छहों अन्धे परस्पर में झगड़ने लगे, दूसरों को झूठा कहने लगे।

उस समय वहाँ एक सज्जन आया उसने उन अन्धों का झगड़ा सुना तब उसने उन अन्धों को शान्ति से समझाया कि सूरदासो ! जैसे तुम्हारे शरीर में कान, दाँत, नाक, पेट, पैर आदि अंग हैं, सब अंगों को मिलाकर तुम्हारा शरीर बना हुआ है उसी तरह हाथी के भी ये सब अंग होते हैं। एक पूँछ और होती है। तुम सबने उसका एक-एक अंग ही हाथ से छुआ है, इसलिये तुम उसको उतना ही हाथी समझ रहे हो। तुम सबका जानना सत्य हो सकता है यदि तुम 'ही' के स्थान पर 'भी' लगा दो।

यानी - तुम यह कहना छोड़ दो कि हाथी सूप सा ही खम्भे-सा ही होता है इसकी बजाय ऐसा कहो कि हाथी (कान की अपेक्षा) सूप सरीखा

भी है, हाथी (पैरों की अपेक्षा) खम्भे-सा भी है, हाथी (सूँड की अपेक्षा) केले के पेड़-सा भी है आदि। इस तरह 'ही' लगाना छोड़कर अपनी बात में 'भी' लगाकर कहोगे तो तुम सब सच्चे हो जाओगे।

उस सज्जन की बात सुनकर उन अन्धों ने अपनी गलती समझ ली और अपना-अपना एकान्त हठ छोड़ दिया। इस तरह उनका आपसी झगडा मिट गया। ठीक, इसी तरह संसार के सभी मत-मतान्तर पृथक् पृथक् एकान्त हठ पकड़ कर दूसरे को झूठा बतलाकर परस्पर झगड़ते हैं, बहुत वाद-विवाद करते हैं। यदि वे अपनी 'ही' को छोड़कर 'भी' लगाने लगें तो जहाँ उनका आपसी झगड़ा दूर हो जावे वहीं उनको पदार्थों का सर्वांश ज्ञान भी होने लगे।

इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त संसार के समस्त आपसी वाद-विवादों को दूर कर देता है। वह सबको 'ही' छोड़कर 'भी' लगाने की प्रेरणा करता है। इस पारस्परिक विचारों-सिद्धान्तों का विवाद दूर करनें में जैनधर्म का अनेकांत या स्याद्वाद सिद्धान्त सफलता प्राप्त करता है।

इस अनेकान्त का स्याद्वाद सिद्धान्त को स्पष्ट तथा सुगम करने के लिये इसे अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंग, प्रकरणों में रखते हैं।

अनेकान्त

इस जगत में अनन्तानन्त चेतन पदार्थ (जीव) हैं और अनन्तानन्त जड़ (अजीव) पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनंत गुणों (शक्तियों) तथा अनन्त विशेषताओं का पुञ्ज है। सूक्ष्म परमाणु (Atom) में भी अनन्त

शक्तियाँ निहित हैं। परमाणु की शक्ति से विशाल नगरों का विध्वंस क्षण भर में किया जा सकता है और विशाल परिमाण में विद्युत (बिजली) उत्पन्न करने वाले बिजली घर का संचालन किया जा सकता हे, भीमकाय जलयान (पानी के जहाज, पनडुब्बी नाव आदि) परमाणु की शक्ति से चलाये जा सकते हैं। एक परमाणु में जब इस प्रकार की विध्वंस, निर्माण, संचालन, प्रेरण आदि रूप असीम शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सिद्ध होती हैं, तब अन्य विशाल जड़-चेतन पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का भी इससे अनुमान किया जा सकता है।

अग्नि लकड़ी जलाकर भस्म करती है, सोने को गलाकर शुद्ध करती है, रोटी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप बनाती है, अशुद्ध धातुपात्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश करती है, इत्यादि अनन्त प्रकार की विशेषताएँ अग्नि में विद्यमान हैं।

ऐसा ही अनन्त शक्तियाँ, गुण या विशेषताएँ, जल, वायु तथा पार्थिव पदार्थों में विद्यमान हैं। ये भौतिक (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य) पदार्थ उन परमाणुओं के सम्बद्ध समुदाय से बना करते हैं, जिनकी शक्ति परमाणु बम, परमाणु बिजलीघर आदि के रूप में पहले बतलाई जा चुकी है।

पौद्गलिक (मटेरियल) जड़ पदार्थों के सिवाय अमूर्तिक (नान मटेरियल) जड़ पदार्थ और भी हैं, जिनको धर्म (क्रियाशील अनन्त पदार्थों की हलन चलन रूप क्रिया में सहायक), अधर्म - स्थितिशील (अनन्त पदार्थों को स्थिति ठहरने में सहायक), आकाश (समस्त अनन्त पदार्थों के लिये स्थानदाता), काल (समस्त-अनन्त पदार्थों के प्रशिक्षणवर्ती

परिणमन में सहायक), नाम से कहा जाता है । उन अमूर्तिक जड़ पदार्थों में से प्रत्येक में भी परमाणु या भौतिक पदार्थों के समान अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। जिससे कि इस विश्व जगत का ढाँचा सूक्ष्म रूप से विविध परिणमन कर रहा है। स्थूल दृष्टि, विचार शक्ति सहसा उसको न जान सके किन्तु सूक्ष्म विचार से तो उनको जाना ही जाता है।

जड़ पदार्थों के समान चेतन पदार्थ जीव भी संख्या में अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक चेतन पदार्थ भी, वह चाहे छोटा प्रतीत हो या बड़ा, अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, श्रद्धा, समता, क्षमता, मृदुता आदि अनन्त प्रकार के गुण या शक्तियाँ तथा विशेषताएँ प्रत्येक जीव में विद्यमान (मौजूद) हैं।

यानी – जगत का कोई भी पदार्थ क्यों न हो वह अनन्त गुणात्मक है। उन अनन्त गुणों का परिणमन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप में प्रतीत होता है।

जल किसी प्यासे मनुष्य की प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजा के रोगी) की प्यास बुझाकर मार देता है, स्नान के रूप में स्वस्थ मनुष्य को जल स्फूर्ति, आनन्द देता है, दाहज्वर वाले मनुष्य को वही जल-स्नान सन्निपात लाकर मृत्यु के निकट पहुँचा देता है। इस तरह जल जीवनदाता अमृत रूप भी है और मारक विषरूप भी है।

दूध शरीर के लिये सर्वोत्तम पोषक पदार्थ है, तत्काल का उत्पन्न बालक, शिशु का जीवन तो दूध के आधार पर निर्भर है। किशोर, यौवन,

प्रौढ़, वृद्ध दशा में भी दूध शरीर का अच्छा पोषण करता है, इसी कारण दूध को अमृत भी कहा जाता है। परन्तु वही दूध अतिसार (दस्त) के रोगी को दिया जावे तो वही दूध उसके लिये विष के समान हानिकारक होता है।

ऐसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने वाली अनेक प्रकार की विशेषताएँ प्रत्येक पदार्थ में एक साथ होती हैं
जैसे – राम राजा दशरथ के पुत्र थे किन्तु लवणांकुश (लव, कुश) के पिता थे, लक्ष्मण के भाई थे, सीता के पति थे, जनक के जामाता (दामाद) थे, भामण्डल के बहनोई थे। इस तरह एक ही राम पुत्र, पिता, भाई, पति, दामाद, बहनोई आदि अनेक रूप थे।

इसी प्रकार प्रायः अन्य प्रत्येक मनुष्य भी पिता, पुत्र, बाबा, पोता, पति, पुत्र, श्वशुर–जमाई, साला–बहनोई आदि अनेक सम्बन्धों का समुदाय होता है।

इन अनेक प्रकार की विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः) रूप में पाया जाता है। जो धर्म–विशेषताएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं (जैसे जो पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है, जो साला है वह बहनोई कैसे हो सकता है ? जो पति है वह पुत्र कैसे हो सकता है इत्यादि) वे ही विशेषताएँ एक ही पदार्थ में ठीक सही तौर पाई जाती हैं। पदार्थ की इस अनेकरूपता, धर्मात्मकता का बतलाने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद कहलाता है।

हम हाथी का चित्र पीछे की ओर से लें तो उसकी फोटो में पिछले पैर और पूँछ ही दिखाई देगी, सामने से फोटो खींचेगे तो उसकी सूँड, दाँत, आँख, कान, मुख, अगले पैर चित्र में आवेगे, यदि दाँयीं ओर से फोटो

खींची जाय तो हाथी की तस्वीर अन्य ढंग की होगी और बाँयीं ओर कैमरा लगाकर फोटो लेने से हाथी का चित्र भिन्न-भिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। हाथी के चित्र परस्पर में एक-दूसरे से विलक्षण हैं परन्तु हैं सब सच्चे और एक ही हाथी के।

तर्जनी (अँगूठे की साथ वाली अँगुली) बड़ी भी है क्योकि अँगूठे से तथा कनिष्ठा (पाँचवीं सबसे छोटी अँगुली) से लम्बाई में वह बड़ी है, परन्तु मध्यमा (बीच की अँगुली) से वह छोटी भी तो है। छोटापन और सबसे बड़ापन दोनों धर्म उस एक ही तर्जनी अँगुली में पाये जाते हैं।

हमारा भारत देश हिन्द महासागर से उत्तर दिशा में है, हिमालय पर्वत से दक्षिण में है, अरब देश से पूर्व में है और ब्रह्म देश (वर्मा) से पश्चिम में है, आकाश से नीचे की ओर है और पाताल से ऊपर की ओर है। इस तरह एक ही भारत देश विभिन्न छः दिशाओं से छह तरह का है, छह तरह से कहा तथा माना जाता है। परस्पर- विरोधी छहों बातें हैं बिलकुल ठीक।

पाँच वर्ष का बच्चा अपने तीस वर्ष के पिता से छोटा भी है क्योंकि उसका शरीर छोटा है, शरीर निर्बल है, बुद्धि अल्प है। परन्तु वही पाँच वर्ष का बच्चा अपनी दो वर्ष की बहिन से बड़ा भी है और वास्तव में आयु की अपेक्षा देखा जावे तो वह पाँच वर्ष का बच्चा अपने 65 वर्ष के बाबा (दादा) से 60 वर्ष तथा अपने पिता से 30 वर्ष से बड़ा है क्योंकि उसके बाबा ने अपने आयु के 65 वर्ष समाप्त कर दिये जबकि उस बच्चे ने अभी केवल पाँच वर्ष ही बिताये हैं। उसका पिता अपने जीवन के 30 वर्ष खो चुका है जबकि उस बच्चे ने केवल पाँच वर्ष व्यतीत किये हैं। यदि तीनों की आयु 80-80 वर्ष हो तो उसका बाबा केवल 15 वर्ष और जीवेगा,

उसका पिता 50 वर्ष और जीवित रहेगा और बच्चा (बाबा और पिता से अधिक) 75 वर्ष और जीवित रहेगा। किन्तु उसकी दो वर्ष की छोटी बहिन 78 वर्ष जीवेगी, इस कारण उस बच्चे से वह तीन वर्ष बड़ी है।

इस तरह एक ही पाँच वर्ष का बच्चा अपने बाबा, पिता और दो वर्ष वाली बहिन से छोटा है और बड़ा भी है। उसका छोटापन न कल्पित है, न उसका बड़ापन कल्पित है। दोनों ही धर्म यथार्थ हैं, वास्तविक हैं।
इस तरह किसी भी पदार्थ के स्वरूप की छानबीन की जावे तो वह अनेक धर्मात्मक (अनेक रूप का) सिद्ध होता है, एक धर्म रूप ही प्रमाणित नहीं होता। इस कारण जगत के सभी पदार्थ अनेकान्त रूप हैं, एकान्त (एक ही रूप) रूप कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल विचार से अनेकान्तवाद यानी– अनेकान्त का सिद्धान्त यथार्थ एवं अकाट्य सिद्ध होता है।

जब हम कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है', उस समय हमारा दृष्टिकोण (Point of view) मौलिक आत्म द्रव्य पर होता है। क्योकि आत्मा अभौतिक द्रव्य है अतः वह न तो अस्त्र-शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। अनादिकाल से अनन्त काल तक बना रहता है। परन्तु जब हम सांसारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव-अवस्था) का विचार करते हैं तो आत्मा अनित्य सिद्ध होता है, क्योकि आत्मा कभी मनुष्यभव में होता है, कभी मर कर पशु-पक्षी आदि हो जाता है। इस तरह एक ही आत्मा में नित्यता भी है और अनित्यता भी है।

पुरुषार्थ सिद्धिउपाय ग्रन्थ में इसके लिये सुन्दर उदाहरण दिया है –

एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।225 ।।

अर्थ–जिस तरह दही को मथ कर मक्खन निकालने वाली ग्वालिनी मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है, इसी तरह जैन पदार्थ निर्णय–पद्धति (अनेकान्तवाद) पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्य करता है तो दूसरे को गौण (अमुख्य) कर देता है। (उसे सर्वथा छोड़ नहीं देता)।

इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक पदार्थों के किसी धर्म को मुख्य और अन्य धर्म के गौण करके विचार करने से तत्त्व का ठीक निर्णय होता है।

सप्तभंगी

'भंग' शब्द के भांग, लहर, प्रकार, विघ्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहाँ पर प्रकार–वाचक 'भंग' शब्द लिया है। तद्नुसार वचन के भंग (प्रकार) सात प्रकार के हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचन भंग होता नहीं और सात से कम मानने से कोई–न–कोई वचन–भंग छूट जाएगा।

इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के विषय में कोई भी बात कही जाती है वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती है या हो सकती है, 1. 'है' (अस्ति) के रूप में, 2. 'नहीं' (नास्ति) के रूप में, 3. 'न' कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में। इन मूल तीन भंगों के परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि– संयोगी) रूप होते हैं 1. हैं और नहीं (अस्ति–

नास्ति) रूप हैं, 2. हैं और न कह सकने योग्य (अस्ति अवक्तव्य), 3. नहीं और न कह सकने योग्य (नास्ति अवक्तव्य) रूप ।

एक भंग तीनों का मिला हुआ (त्रिसंयोगी) होता है है, नहीं और न कह सकने योग्य (अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य)।

इस तरह वचनभंग सात तरह के हैं, इन सातों भंगों के समुदाय को (सप्तानां भंगानां समुदायः सप्तभंगी) 'सप्तभंगी' कहते हैं। इस तरह स्यात् पद लगाकर उन सात भंगों के नाम यों हुए - 1. स्यात् अस्ति, 2. स्यात् नास्ति, 3. स्यात् अस्ति- नास्ति, 4. स्यात् अवक्तव्य, 5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, 6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, 7. स्यात् अस्ति नास्ति, अवक्तव्य।

1. प्रत्येक वस्तु अपने (विवक्षित कहने के लिये इष्ट) दृष्टिकोण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा) अस्तित्व (मौजूद) रूप होती है। जैसे- राम अपने पिता दशरथ की अपेक्षा 'पुत्र' हैं।

2. प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं की या अन्य (अविव-क्षित) दृष्टिकोणों की अपेक्षा अभाव नास्तित्व रूप होती है। जैसे राम राजा जनक (की अपेक्षा) के पुत्र नहीं हैं।

3. दोनों दृष्टिकोणों को क्रम से कहने पर वस्तु अस्तित्व तथा अभाव (अस्ति-नास्ति) रूप होती है। जैसे राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं हैं।

4. परस्पर विरोधी (हैं तथा नहीं रूप) दोनों दृष्टिकोणों से एक साथ (युगपत) वस्तु वचन द्वारा कही नहीं जा सकती क्योंकि वैसा वाचक (कहने वाला) कोई शब्द नहीं है। अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होती है। जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की

युगपत् (एक साथ एक शब्द द्वारा) अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते।

5. वस्तु न कह सकने योग्य (युगपत् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य) होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) जैसे राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं। (स्यात् अस्ति अवक्तव्य)।

6. वस्तु अवक्तव्य (युगपत् कहने की अपेक्षा) होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप (स्यात् नास्ति अवक्तव्य) है। जैसे राम युगपत् दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य होते हुए भी राजा जनक की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं। (स्यात् नास्ति अवक्तव्य)।

7. परस्पर विरोधी (हैं और नहीं रूप) दृष्टिकोणों से युगपत् (एक साथ एक ही शब्द द्वारा) अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं (अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य) रूप होती है। जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपत् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य हैं) किन्तु युगपत् की अपेक्षा अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राम राजा दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रत्येक पदार्थ के विषय में लागू होती है। सप्तभंगी के लागू होने के विषय में मूल बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनुयोगी (अस्तित्व रूप) और प्रतियोगी (अभाव रूप–नास्तित्व रूप) धर्म पाये जाते हैं तथा अनुयोगी प्रतियोगी धर्मों को युगपत् (एक साथ) किसी भी शब्द द्वारा न कह सकने योग्य रूप अवक्तव्य धर्म भी प्रत्येक

पदार्थ में विद्यमान हैं। अनुयोगी, प्रतियोगी और अवक्तव्य इन तीनों धर्मों के एक संयोगी (अकेले अकेले) तीन भंग होते हैं, द्विसंयोगी (युगल रूप) तीन भंग होते हैं तथा तीनों का मिलकर त्रिसंयोगी भंग एक होता है। इस तरह सब मिलकर सात भंग हो जाते हैं।

स्याद्वाद

जानने और कहने में बहुत भारी अन्तर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं, उन ज्ञान-अंशों के वाचक न तो उतने शब्द हैं और न उन सब ज्ञान-अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ (रसना) मेंहै।

मोटा-सा दृष्टान्त है कि हम अंगूर, आम, अनार खाकर उनके मिठास के अन्तर (मिष्टता) को पृथक् पृथक् यथार्थ कह नहीं सकते। किसी भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ के छूने, सैंधने, देखने, सुनने में जो आनन्द या दुःख होता है, कोई भी मनुष्य उस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ठीक उसी रूप में मुख द्वारा कह नहीं सकता। परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) होने वाले विद्यार्थी को अपना परीक्षाफल जानकर जो हर्ष हुआ, उस हर्ष को हजारों यत्न करने पर भी वह ज्यों-का-त्यों कह नहीं सकता। गठिया वात रोगी को गठियावात की जो पीड़ा होती है, उसे वह शब्दों द्वारा नहीं बतला सकता।

इस तरह एक तो जानने और कहने में यह एक बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे जितना विषय एक समय में जाना जाता है यदि उसे मोटे रूप में भी कहना चाहें तो उसके कहने में जानने की अपेक्षा समय बहुत अधिक लगता है। एक सुन्दर बाग का दृश्य देखकर जो उस बाग के विषय में एक ही मिनिट में ज्ञान हुआ, उस सब जानी हुई बात को कहने में अनेक मिनिट

ही नहीं अपितु अनेक घंटे लग जायेंगे। क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने तथा नाक ने एक मिनिट में जान लिया है उनको जीभ एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक-एक करके कहा जा सकेगा।

इसी कारण प्राचीन ग्रन्धकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितने त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती पदार्थों को युगपत् (एक साथ) जानते हैं, उनके अनन्तवें भाग विषय उनकी वाणी से प्रगट होता है। जितना दिव्यध्वनि से प्रगट होता है उसके अनन्तवें भाग चार ज्ञानधारक गणधर अपने हृदय में धारण कर पाते हैं। जितना विषय धारण कर पाते हैं उसका अनन्तवें भाग शास्त्रों में लिखा जाता है।

इस प्रकार जानने और उस जाने जुए विषय को कहने में महान अन्तर है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असम्भव है।

अतः जिस पदार्थ के विषय में कुछ कहा जाता है तो एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं, किन्तु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं। जैसे कि जब यह कहा जावे कि राम राजा दशरथ के पुत्र थे।

उस समय राम के साथ लगे हुए सीता, लक्ष्मण, लव-कुश (लवणांकुश) आदि अन्य व्यक्तियों के पति, भ्राता, पिता आदि के संबंध कहने से छूट जाते हैं, जो कि यथार्थ हैं। यदि उन छूटे हुए संबंधों का अपलाप कर दिया जावे (सर्वथा छोड़ दिया जावे) तो राम-सम्बन्धी परिचय (जानकारी) अधूरा रह जाएगा और इसी कारण वह कहना गलत (अयथार्थ) प्रमाणित (साचित) होगा।

इस गलती या अधूरेपन को हटाने के लिये जैन सिद्धात ने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' शब्द लगाने का निर्णय दिया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथञ्चित्' यानी किसी दृष्टिकोण से या 'किसी अपेक्षा से' है। अर्थात् जो बात कही जा रही है वह किसी एक अपेक्षा से (किसी एक इच्छित रष्टिकोण से) कही जा रही है। जिसका अभिप्राय यह प्रगट होत्ता है कि यह विषय अन्य दृष्टिकोणों से या अन्य अपेक्षाओं से अन्य अनेक प्रकार भी कहा जा सकता है।

तदनुसार राम के विषय में यो कहेंगे स्वात् (राजा दशरथ की अपेक्षा) राम पुत्र हैं। स्यात् (सीता की अपेक्षा) राम 'पति' हैं।

स्यात् (लक्ष्मणकी अपेक्षा) राम 'भ्राता' भाई हैं।

स्यात् (लवणांकुश की अपेक्षा) राम 'पिता' हैं। स्यात् (राजा जनक की अपेक्षा) राम 'जामाता' (दामाद) हैं।

इस तरह 'स्यात् शब्द लगाने से उस बड़ी भारी त्रुटि (गलती) का ठीक यानी - राम 'पुत्र' तो हैं किन्तु वे सर्वथा (हर तरह से) पुत्र ही नहीं हैं, वे पति, भाई, पिता, दामाद आदि भी तो हैं। हौ, वे राजा दशरथ की अपेक्षा से पत्र ही हैं। इस 'अपेक्षा' शब्द से उनके अन्य दूसरे पति, भाई, पिता, दामाद आदि संबंध सुरक्षित चने रहते हैं।

स्यात् भारत (हिमालय की अपेक्षा) दक्षिण में है। इससे यही ध्वनि निकलती है कि भारत देश सर्वथा (हर एक तरह से-सर्वथा) दक्षिण में ही नहीं है अपितु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य दिशाओं में भी है।

तदनुसार-

स्यात् (हिन्द महासागर की अपेक्षा) भारत देश उत्तर दिशा में है।

स्यात् (अफगानिस्तान की अपेक्षा) भारतवर्ष पूर्व दिशा में है। स्यात् (बर्मा की अपेक्षा) भारत पश्चिम में है।

इस तरह 'स्यात्' पद लगा देने से उस कही हुई बात के सिवाय उस पदार्थ-संबंधी अन्य बातों की सत्ता (संभावना) बनी रहती है।

स्यात् (त्रिकाल अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा) जीव नित्य है। इससे ध्वनित होता है कि जीव में नित्यता की तरह किसी अन्य दृष्टिकोण (अपेक्षा) से 'अनित्यता' भी पाई जाती है।

तद्नुसार 'स्यात्'(पर्याय की अपेक्षा मनुष्य, पशु आदि नश्वर शरीरों की रष्टि से) जीव अनित्य है। इस सत्य बात की भी रक्षा हो जाती है। इस प्रकार 'स्यात्' पद लगा देने से संसार के सभी सैद्धान्तिक विवाद शान्त हो जाते हैं।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन का फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चारों फोटो चार विभिन्न (अलग-अलग तरह के आयेंगे। इस पर ये फोटोग्राफर अपने-अपने फोटो को ठीक बताकर परस्पर झगड़ने लगे कि मेरा फोटो ठीक है, तुम तीनों के फोटो गलत हैं। तो उस विवाद का यथार्थ तथा चारों फोटोग्राफरों के लिये सन्तोषजनक निर्णय (फैसला) 'स्यात्' (कोई एक इष्ट दृष्टिकोण) कर सकता है। तद्नुसार निर्णय दिया जाएगा कि-

स्यात् (सामने की अपेक्षा) इस (भवन के सामने खड़े होकर खींचने वाले) फोटोग्राफर का फोटी ठीक है। स्यात् (पीछे भाग की अपेक्षा) पीछे से फोटो लेने वाले का फोटो ठीक है। स्यात् (दाहिनी ओर की अपेक्षा) दाहिनी ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। स्यात्

(बाँयीं ओर की अपेक्षा) बौयीं ओर से फोटो लेनेवाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है।

इस तरह सबको सन्तोषजनक यथार्थ निर्णय 'स्यात्' लगाने से हो जाता है।

जगत् के विभिन्न मत-मतान्तर अपने-अपने एक-एक दृष्टिकोण ही को सत्य मानकर दूसरों के दृष्टिकोण से प्रगट की गई मान्यता असत्य बतला कर परस्पर विवाद करते हैं। उनका विवाद 'स्यात्' पद लगाकर ही दूर किया जा सकता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभंगी, स्याद्वाद के रूपान्तर हैं। स्याद्वाद एक वास्तविक अकाट्य सिद्धान्त है किन्तु यह दार्शनिक तर्क-विषय है, अतः कुछ कठिन है। अनेक व्यक्ति इसका स्वरूप ठीक न समझ सकने के कारण इसे गलत ठहराने का यत्न करते हैं। ऐसी त्रुटि साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े विद्वान भी कर जाते हैं। श्री शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वान भी स्याद्वाद को न समझा पाये, अतएव उन्होने अपने शांकर भाष्य में 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए बहुत मोटी गलती कर गये हैं। जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को ठीक समझ कर शांकर भाष्य देखा है, वे शंकराचार्य के भक्त होते हुए भी उनकी गलती स्वीकार करते हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के दर्शन विषय (फिलासफी) के भूतपूर्व प्रधान अध्यापक श्री फणिभूषण जी अधिकारी लिखते हैं-

''जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात

अल्पज्ञ पुरुष के लिये क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान विद्वान के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि में इस महर्षि को अतीव आदर की रष्टि से देखता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।''

श्री महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पं. स्वामी राममिश्र जी शास्त्री प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, बनारस लिखते हैं-

''मैं कहाँ तक कहें बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैन मत का खंडन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन देख हैसी आती है, स्याद्वाद यह बैनधर्म का एक अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जर्मन विद्वान प्रो. हर्मन जेकोबी स्याद्वाद का गुणगान करते हुए लिखते हैं -

''जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।

इंडिया आफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. थामस के उद्गार बड़े महत्वपूर्ण हैं वे कहते हैं कि -

''न्यायशास्त्र में जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँन्बा है। स्वाद्वाद का स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।''

भारतीय विद्वानों में विख्यात निष्पक्ष आलोचक एवं सरस्वती पत्रिका

के सम्पादक स्व. पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते है–

प्राचीन दर्जे के हिन्दू–धर्मावलम्बी बड़े–बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं बानते कि जैनियों का स्थाद्वाद किस चिडिया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियों के कीर्ति–कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान बेनों के धर्मग्रन्थों की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकों की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार में ही डूबे रहते।

महात्मा गाँधी जी लिखते हैं–

जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ, उसी प्रकार में उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकांत बड़ा प्रिय है।

उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डॉक्टर सम्पूर्णानन्द जी लिखते हैं–

अनेकान्तवाद या सप्तभंगी न्याय वैनदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ जो सात अन्त या स्वरूप जैन शास्त्रों में कहे गये है, उनको ठीक रूप से स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान भी सात में कुछ को गौण मानते हैं। साधारण मनुष्य को वह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के सुधार ही आता है जो उपर्युक्त पाँच बातों में से एक ही बात कहने पर होती है। लिये एक ही समय में है और नहीं है दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं, परन्तु कठिनाई के होते हुए भी वस्तु स्थिति तो ऐसी ही है।

– जैनधर्म (पुस्तक)

डॉ. एम. बी. नियोगी (एम.ए., एलएल.एम., एल.एल.डी. भूतपूर्व चीफ जज नागपुर हाईकोर्ट तथा उपकुलपति नागपुर विश्व विद्यालय) लिखते हैं –

जैनाचार्यों की यह वृत्ति अभिनन्दनीय है कि उन्होंने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशों में ही सत्य का एकाधिकार नहीं बताया। इसके फलस्वरूप उन्होने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गुणों को दूर कर दिया जिसके कारण मानव इतिहास भयंकर द्वन्द्व और रक्तपात के द्वारा कलंकित हुआ है। अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद विश्व के दर्शनों में अद्वितीय है।.......... स्याद्वाद सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण वह यह मानता है कि दूसरे व्यक्ति को भी कुछ कहना है।... सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धान्त औद्योगिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत की गई जटिल समस्याओं को सुलझाने में अत्यधिक कार्यकारी होगे। जैन शासन पृष्ठ 24–25

डॉ. गंगानाथ जी झा प्रयाग विश्व विद्यालय लिखते हैं–

'जब से मैने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है तबसे मुझे विश्वास है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैनधर्म को जान सका है उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूलग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।'

प्रो. आनन्द शंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं –

महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोक संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु

वह एक दृष्टि-बिन्द हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है।

विश्व-धर्म-अहिंसा

आत्मा के स्वभाव को 'धर्म' कहते हैं। जिस तरह अग्नि का स्वभाव 'उष्ण' (गर्म) है, जल का स्वभाव शीतल (ठंडा) है। उसी तरह जगत की समस्त आत्माओं (जीवों) का जो स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है।

आत्मा का स्वभाव 'अहिंसा' रूप है। यों जल को आग से तपा कर गर्म कर दिया जाता है, उसके शीतल स्वभाव को बिगाड़ दिया जाता है, परन्तु गर्म जल को भी यदि आग से हटाकर अलग रख दिया जाय तो वह अपने-आप ठंडा हो जाता है। इसी तरह संसार में सिंह, बाघ, चीता, भेड़िया, बिल्ली आदि बहुत से जीव हैं जो दूसरे जीवों को मार कर हिंसा किया करते हैं, अतः क्रूरता, निर्दयता, दुष्टता उनका जन्मकाल से ही स्वभाव-सा बना होता है। कसाई, मछलीमार, चिड़ीमार, भील आदि जातियों के स्त्री-पुरुष अपनी कुल-परम्परा से पशु-पक्षियों को अपनी बाल्य-अवस्था से ही मारने लगते हैं। अतः छोटे जीव-जन्तुओं को मारने-कुचलने आदि में उनको कुछ संकोच नहीं होता।

मांस-भक्षी जीवों की ऐसी दयाहीन प्रवृत्तियों को देखकर आशंका की जा सकती है कि अहिंसा (किसी को न मारना, किसी को कष्ट न देना) आत्मा का स्वभाव कैसे माना जावे?

प्रश्न ठीक है, किन्तु इसका समाधान यह है कि जिस तरह जल का

स्वभाव गर्म नहीं है, अग्नि के संयोग से वह गर्म हो जाता है, यदि अग्नि का संयोग नहीं रहता तो वह स्वयं ठंडा ही बना रहता है। इसी तरह जो पशु-पक्षी या मनुष्य निर्दय हिंसक होते हैं, वह दयाहीन हिंसक प्रवृत्ति उनकी स्वाभाविक नहीं होती, किसी संसर्ग या निमित्त से उनमें होती है। फिर भी स्वाभाविक दयाभाव या अहिंसक भावना उनमें भी समय-समय पर प्रगट होती ही रहती है।

सिंह, बाघ, भेड़िया अन्य पशुओं को तो निर्दयता से मार डालते हैं किन्तु वे अपने बच्चों पर दयाभाव रखते हैं, अपने परिवार पर उनका निर्दय प्रहार नहीं होता, न उन्हें अपने उपर किसी शिकारी को बन्दूक, भाला, बाण आदि के द्वारा होने वाला आक्रमण अच्छा लगता है। इसी तरह अन्य जीवों की प्रतिदिन हत्या करने वाले कसाई, चिड़ीमार, धीवर आदि भी अपने लिये, अपने प्रिय परिजनों के लिये हिंसा का उपयोग नहीं करते, उनमें अपनों के लिये अहिंसा की भावना बनी रहती है, अपने ऊपर किसी तरह का प्रहार होना अच्छा नहीं लगता।

इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी कम-से-कम अपने लिये तो अहिंसा ही चाहता है, अपने प्राणों की हिंसा किसी भी जीव को पसंद नहीं है। जो खूंखार दुष्ट जीव दूसरे को मारने, चीरने, फाड़ने, खाने के लिये सदा तैयार रहते हैं वे ही अपनी रक्षा चाहते हैं।

इस तरह जगत के समस्त जीवों को 'अहिंसा' प्रिय है, इस कारण विश्व जगत का धर्म 'अहिंसा' रूप हो सकता है।

महाभारत में अहिंसा का महत्व समझाने के लिये लिखा है -

एकतः काञ्चनो मेरुः कृत्स्ना चैव वसुन्धरा ।
जीवस्य जीवितं चैव न तत्तुल्यं युधिष्ठिर ।।

अर्थ – भीष्म पितामह युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहते हैं कि एक ओर तो मेरू पर्वत के बराबर सोना अथवा समस्त पृथ्वी दान के लिये रक्खी जावे और दूसरी ओर एक जीव का जीवन (जिन्दगी) रक्खी जावे तो वे बराबर नहीं हैं। अर्थात् पर्वत के बराबर सोना और समस्त पृथ्वी का दान इतना महत्वशाली नहीं है जितना महत्वशाली किसी जीव के प्राण बचाना है।

यदि किसी मनुष्य को उसकी मृत्यु के बदले में समस्त पृथ्वी का राज्य देने की घोषणा की जावे तो वह मनुष्य उस राज्य को ठुकरा देगा, अपने प्राण देने के लिये तैयार न होगा।

इसका कारण यह है कि संसार में सबसे अधिक दुःख अपनी मृत्यु का होता है। इसीलिये दीन, दरिद्र, रोगी और दुःखी जीव भी मरने के लिये तैयार नहीं होता। अपने प्राणों को प्रत्येक जीव सबसे अधिक प्यारा समझता है। ऐसी दशा में समस्त जीवों का मनचाहा धर्म 'अहिंसा' ही हो सकता है।

अहिंसा क्या है?

अहिंसा को समझने के लिये पहले उसके प्रतिपक्षी हिंसा को समझ लेना आवश्यक है।

किसी लोभ, क्रोध, अभिमान, अपयश, स्वार्थ आदि बुरी भावना से अपने आप को या अन्य किसी जीव को मारना, सताना, दुःख देना 'हिंसा'

है। यानी दुर्भावना (बुरे विचारों) से किसी को दुःख देना या मारना हिंसा है। यदि बुरी भावना न हो उस दशा में किसी को दुःख पहुँचे तो वह हिंसा नहीं है।

कसाई अपने लोभ के लिये बकरे को छुरी से मारता है इस कारण वह अपनी दुर्भावना से हिंसा का पाप करता है और एक डॉक्टर के हाथ से रोगी को अच्छा करने की भावना से आपरेशन (चीरा- फाड़ी) करते समय रोगी की मृत्यु हो जाती है तो डॉक्टर को हिंसा का पाप नहीं होता।

माता-पिता, अध्यापक लड़के को गुणी विद्वान बनाने के लिये मारते-पीटते हैं, उस समय उस लड़के का हृदय तो दुःखी होता है, परन्तु माता-पिता या अध्यापक के हृदय में सद्भावना है, अतः उन्हें हिंसा का पाप नहीं लगता।

इस तरह हिंसा का मूल कारण दुर्भावना है और अहिंसा का कारण सद्भावना है। दुर्भावना भी हिंसा रूप है।

क्रोध आदि दुर्भावना से अपना सिर फोड़ना, शरीर क्षत- विक्षत (घायल) करना या आत्महत्या करना भी हिंसा है।

इस तरह मोटे रूप से हिंसा के चार रूप होते हैं, 1. दूसरे जीव की हिंसा की भावना करना, 2. दूसरे जीव को मारना, घायल करना, दुःख पहुँचाना, 3. अपने-आपको मारने, घायल करने की भावना, 4. अपने-आपको मारना या आत्महत्या करना। इसलिये हिंसा पाप से बचने के लिये अपनी भावना शुद्ध रखनी चाहिये। जिस तरह हम अपने लिये दःख नहीं चाहते, जिस तरह हमको छुरी, बन्दूक, तलवार आदि की चोट से दुःख होता है उसी तरह दूसरे जीवों को भी दुःख होता है। इस प्रकार अपना तथा

अन्य जीवों का दुःख अपने हृदय में अनुभव करके मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हिंसा का त्याग करे।

हिंसा का त्याग करना ही 'अहिंसा' है। हिंसा सबसे बड़ा पाप है और अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है।

यदि संसार में सभी जीव हिंला करने वाले हो जायें तो संसार का नाश हो जावे, कोई भी जीव जीवित न बचे। इसलिये हिंसा (विनाश) करनेवाला सबसे बुरा पाप है। यदि संसार के समस्त जीव अहिंसा का पालन करें तो संसार में किसी को कोई दुःख न हो, सब जीव सुख, शान्ति, आनन्द से रहें। इस कारण अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है।

जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है या वही धर्म है वहाँ हिसा नहीं है। जहाँ अहिंसा है वहाँ पाप नहीं है, जहाँ पाप नहीं है वहीं अहिंसा है। अहिंसा से सबको सुख होता है और हिंसा से सबको दुःख होता है।

हिंसा करने से बैर-भाव उत्पन्न होता है। वैरभाव से बदला लेने के लिये प्रतिहिंसा होती है। उस प्रतिहिंसा का बदला लेने के लिये फिर हिंसा की जाती है। इस तरह हिंसा-प्रतिहिंसा की परंपरा चलती रहती है। वह हिंसा-प्रतिहिंसा की परंपरा तथ ही मिटत्ती है या शान्त होती है जब कि उन दोनों में से एक पक्ष वाला हिंसा की भावना छोड़ देता है, अहिंसक शान्त बन जाता है।

अहिंसा से शान्ति का प्रसार (फैलाव) होता है। जिसका असर आस-पास के जीवों के हृदय पर पड़ता है। भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिये जैसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष, साधु-साध्वी आते थे उसी तरह पशु-पक्षी भी आते थे। उन पशु-पक्षियों में जो सिंह, चीता, भेड़िया आदि हिंसक

जीव होते थे, भगवान महावीर की अहिंसा का प्रभाव उन हिंसक जीवों के हृदय पर ऐसा पड़ता था कि उनके पास में हिरण, गाय आदि पशु निर्भय बैठे रहते थे, सिंह, चीता आदि उनको अपने बच्चों के समान समझते थे। सिंहिनी हरिणी के बच्चे को प्रेम से दूध पिलाती थी और सिंहिनी का बच्चा हरिणी का दूध पीता था। किसी भी दुष्ट जीव में हिंसक दुष्ट भावना न रहती थी।

चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज द्रोणगिरि पर्वत पर रात्रि को जब सोये तो एक सिंह मनुष्य की गन्ध पाकर वहाँ आ गया, परन्तु आचार्य महाराज को देखकर वह शान्त हो गया और शान्ति से उनके पास में बैठा रहा, आचार्य महाराज जब प्रातः 4 बजे उठे, तब भी सिंह उनके पास ही बैठा रहा, आचार्य महाराज भी सिंह को अपने पास बैठा देखकर भयभीत नहीं हुए और प्रतिदिन के समान सामायिक (आत्मध्यान) करने बैठ गये। सिंह शान्त बैठा रहा, जब सूर्य उदय हुआ तब चुपचाप जंगल में चला गया 12-3 रात इसी तरह वह सिंह आचार्य महाराज के पास आता रहा।

विषधर सर्प तो अनेक बार अनेक स्थानों पर उनके शरीर पर चढ़ते-उत्तरते रहे।

स्वामी रामतीर्थ को हरिद्वार के निकट बन में घूमते हुए शेर-शेरनी मिले किन्तु उनके शरीर को छूते हुए चुपचाप चले गये। स्वामी रामतीर्थ ने प्रेम से उनके शरीर पर हाथ फेरा।

इस तरह अहिंसा का प्रभाव हिंसक जीवों की दुष्ट, निर्दय, भावना को दूर करके उन्हें शान्त बना देता है।

इस प्रकार हिंसा संसार में हिंसा, क्षोभ, भय, द्वेष, और, अशान्ति का

वातावरण उत्पन्न करती है और अहिंसा संसार में शान्ति, प्रेम, मित्रता, निर्भयता का वातावरण बनाती है। हिंसा एक तरह की भयानक आग है और अहिंसा मधुर शीतल जल के समान है।

इस कारण मनुष्य जिस तरह किसी जीव की भूख मिटाने के लिये अपने शरीर का मांस नहीं देना चाहता, अपना शरीर सुरक्षित रखना चाहता है, उसे कोई कष्ट नहीं होने देना चाहता, उसी तरह अन्य जीव भी अपने शरीर का मांस किसी को नहीं देना चाहते। इसलिये मनुष्य को दयालु बनना चाहिये, दष्ट, निर्दय डाकू की तरह दूसरे किसी जीव का प्राणधन अपनी भूख मिटाने के लिये बलपूर्वक (जबरदस्ती) नहीं छीनना चाहिये।

जो जीव स्वभाव से मांस खाने वाले होते हैं वे जीभ से लप-लप क र पानी पीते हैं, उनके दाँत गोल नुकीले होते हैं, उनके भोजन धबाने के लिये डाढ़े नहीं होतीं, इसलिये वे भोजन चबाते नहीं हैं, चीर-फाड़ कर बिना चबाये रखा जाते हैं। जैसे सिंह, बाघ, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली आदि।

मनुष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है। मनुष्य पानी पैंट भर कर पीता है, उसके दौत चपटे होते हैं, गोल नुकीले नहीं होते, उसके भोजन चबाने के लिये डाढ़ें होती हैं। घास-पात खाने वाले गाय, घोड़ा आदि जानवरों के दाँत भी मनुष्यों के समान होते हैं तथा उनके पानी पीने का ढंग भी मनुष्य का-सा होता है।

इस कारण मनुष्य स्वभाव से अन्न, फल, शाक पत्ती खाने बाला प्राणी है, मांस-भक्षी नहीं है।

जिन मनुष्यों ने मांस-भक्षी पशुओं को देखकर अपना स्वभाव बिगाड़ लिया है, वे ही दूसरे जीवों की हिंसा करना तथा मांस खाना बुरा नहीं

समझते। ऐसे मांस-लोलुपी मनुष्यों ने भगवान, देवी, देवता के नाम पर बकरी, घोड़ा, गाय, सुजर, हिरण, मुर्गा आदि जीवों को मार कर बलि (कुर्बानी) करने की प्रथा चलाकर संसार को तथा अपने-आपको धोखा दिया है। धर्म के नाम पर हिंसा पाप को फैला दिया है।

मांस में (चाहे वह कच्चा हो, पका हुआ हो, सूखा हो या गीला) सदा असंख्य कीटाणु उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण मांस खाने से एक ही जीव की हिंसा नहीं होती, अपितु असंख्य कीटाणुओं की भी हिंसा होती है।

किसी भी मत में किसी जीव को दुःख देना, मारना तथा मांस खाना धर्म नहीं बतलाया, मांसलोलुपी, स्वार्थी लोगों ने अपनी दुर्वासना सिद्ध करने के लिये धर्मग्रन्थों में हिंसा करने की बाते मिला दी हैं।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध गृहस्थ-अवस्था से ही बहुत दयालु थे। घर बार छोड़कर जब वे पहले जैन साधु बने फिर कुछ दिन पीछे लाल कपड़े पहन कर उन्होने नया पन्थ चलाया। उस साधु अवस्था में भी उन्होने यज्ञों में होने वाली पशु-हिंसा को रोकने के लिये अहिंसा का खूब प्रचार किया।

उन गौतम बुद्ध के विषय में यह कहा जाता है कि एक बार उन्होने मरी हुई मछली को हिंसा से निर्दोष समझकर खा लिया था और अपने शिष्यों को त्रिकोटि-शुद्ध (न स्वयं किसी जीव को मार कर मांस लो, न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी जीव को मरवा कर मांस लो, न किसी से अपने खाने को मांस देने की प्रेरणा करो। फिर भी यदि कोई अपने-आप मांस तुम्हें दे दे तो ले लो) मांस खाने की अनुमति दे दी थी। इसी कारण बौद्ध धर्म के अनुयायी गृहस्थ तथा साधुओं में मांस खाने की प्रवृत्ति फैल गई है।

यह बात कहाँ तक सत्य है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता, उन्होंने ग्रन्थों में मांस-भक्षण का बहुत निषेध किया है। परन्तु गौतम बुद्ध को अपने जीवन काल में यह बात जैच गई थी कि मेरे अनुयायी भविष्य में मांस-भक्षण करने लगेगे। तभी उन्होंने वैसी भविष्यवाणी की थी। अस्तु।

हम यहाँ बौद्ध ग्रन्थों का प्रमाण देकर इस विषय पर प्रकाश डालते हैं जिससे गौतम बुद्ध की भावना का परिचय बौद्ध तथा बौद्धेतर जनता को मिले।

लंकावतार सूत्र बौद्धमत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सन् 1922 में प्रकाशित लंकावतार सूत्र में लिखा है -

मद्यं मांसं पलांडु च न भक्षयेयं महामते ।
बोधिसत्वैर्महासत्वैर्माषादिवजिनपुंगवैः ।। 1 ।।
मांसानि च पलांडूंश्च मद्यानि विविधानि च ।
गुंजानं लशुनं चैव योगी नित्यं विवर्जयेत् ।। 5 ।।
लाभार्थं हन्यते सत्वो मांसार्थ दीयते धनं ।
उभौ तौ पापकर्माणौ पच्येते रौरवादिषु ।। 1 ।।
हस्तिकक्ष्ये महामेघे निर्वाणांगुलिमालिके ।
लंकावतारसूत्रे च मया मांसंविवर्जितम् ।। 16 ।।
यथैव रागो मोक्षस्य अन्तरायकरो भवेत् ।
तथैव मांसमद्याद्य अन्तरायकरो भवेत् ।। 10 ।।
तस्मान्न भक्षयेन्मांसमुद्वेजनकरं नृणाम् ।
मोक्षधर्मविरुद्धत्वादार्याणामेष वै ध्वजः ।। 24 11

भावार्थ - हे महामते ! बौद्धमती महा बौद्धमती किसी को भी मांस,

मदिरा, प्याज नहीं खाना चाहिये ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ॥1 ॥

मांस, प्याज, नाना प्रकार की मदिरा, गाजर, लशुन का योगी को सदा निषेध है ॥5॥

जो प्राणी लोभ के लिये प्राणी को मारते हैं व मांस के लिये धन देते हैं। दोनों ही पापी रौरवादि नरकों में जायेगे ॥9 ॥

हस्यिक रथ में, महामेघ में निर्वाणंगुलिमालिका में व लंकावतार सूत्र में मैंने मांस का निषेध किया है।।161

जैसे मोक्ष के लिये राग विघ्नकारी है वैसे मांस-मद्यादि विघ्नकारी हैं।।10।।

इसलिये मांस को नहीं खाना चाहिये। यह प्राणियों को भयोत्पादक है। यह मोक्ष धर्म के विरुद्ध है। मांस न खाना यही आर्यों की ध्वजा है ।।24 ।।

''यदि च महामते मांसं न कथंचन केचन भक्षयेयुर्न तन्निदानं धातेरन्। मूल्यहेतोर्हि महामते प्रायः प्राणिनो निरपराधिनो बध्यन्ते स्वल्पादन्यहेतोः, कष्टं महामते रसतृष्णयामतिसेवितां मांसानि मानुष्याण्यपि मानुषैर्भक्ष्यन्ते किं पुनरितरमृग-पुनरित पक्षिप्राणिसम्भूतमांसानि प्रायो माहमते मांसरसतृष्णा-तैरिदंतया तथाजालयंत्रमाविद्धं मोहपुरुषैर्यच्छाकुनि कौर भ्रककैवर्तादयः विचरभूचर जलचरा प्राणिनोऽनपराधिक नो ऽनेक प्रकारं मूल्यहेतोर्विशसन्ति।''

भावार्थ - मांस को न कभी खाना चाहिये और न उसके लिये घातना चाहिये। मूल्य के लिये भी प्रायः निरपराधी प्राणी बध किये जाते हैं अन्य हेतु से कम। यह बड़ा कष्ट है कि रस की तृष्णा से मांस की लोलुपता से मनुष्य को भी खाने लगते हैं तो फिर मृग पक्षी आदि के मांस की तो बात ही

क्या। मांस खाने वालों के लिये चिडीमार, भेड़मार, मछलीमार जाल व यंत्रों से पक्षी, मृग, मत्स्य आदि निरपराध प्राणियों की अनेक प्रकार मात्र पैसे के लिये हिंसा करते हैं।

महात्मा बुद्ध की भविष्य-वाणी

''न च महामतेऽकृतकमकारितमसंकल्पितं नाम मांसं कल्प्यमस्ति यदुपायानुजानियं श्रावकेभ्यः। भविष्यति तु पुनर्महामतेऽनागतेऽध्वनि ममैव शासने प्रव्रजित्वा शाक्यपुत्रीयत्वं प्रतिजानानाः काषाय धवजधारिणो मोहपुरुषा मिथ्यावितर्को पहतचेतसो विविधविनयकल्पवादिनः सत्कायदृष्टियुक्ताः रसतृष्णाध्ववसितासां तां मांसभक्षणहेत्वाभा-सग्रिन्थयिष्यन्ति। मम चाभूताख्यानं दातव्यं मनस्यन्ते तत्तथर्थोत्पत्तिनिदानं कल्पयित्वा वक्ष्यन्ति। इयं अर्थोत्पत्तिरस्मिन्निदाने भगवता मांसभोजनमनुज्ञातं कल्प्यमिति। प्रणीतभोजनेषु चोक्तं स्वयं च किलतथागतेन परिमुक्तमिति। न च महामते कुत्रचित्सूत्रे प्रतिसेवितव्यमित्यनुज्ञातं प्रणीतभोजनेषु वा देशितं कल्प्यमिति।''

हे महामते ! कोई मांस अकृत अकारित व असंकल्पित लेने योग्य नहीं है, जिसे लेकर मैं श्रावकों को आज्ञा करूँ। हे महामते ! भविष्य में मेरे ही शासन में ऐसे व्यक्ति होगे जो साधु दीक्षा लेकर शाक्य-पुत्र की आज्ञा मानने वाले होकर गेरुआ रंग की ध्वजा धारने वाले होकर, मोही पुरुष मिथ्या तर्क चित्त में उठाकर आचार के विविध भेद कहेगे। शरीर में ही जिनकी दृष्टि होगी, रस की तृष्णा में रोगी होगे वे मांस-भक्षण के लिये खोटे हेतुओं को बना लेगे। जो बात मैंने नहीं कही है उसे वे मानेंगे व जिससे मांसाहार पुष्ट हो, ऐसी बात कहेगे 'इसी कारण भगवान ने मांस की

आज्ञा दी है ऐसी कल्पना करेंगे। भक्ष्य भोजनों में मांस कहा है व स्वयं भगवान ने मांस खाया है।' परन्तु हे महामते ! मैंने किसी भी सूत्र में मांस को सेवने योग्य नहीं कहा है, न आज्ञा दी है, न उत्तम भोजन में कहा है, न लेने योग्य कहा है।

नोट– आज बुद्ध–भक्त व बुद्धेतर जनता बुद्ध के नामपर मांस खाने का असत्य प्रचार कर रही है। अतः बुद्ध की भविष्यवाणी सत्य हो रही है।

''न हि महामते आर्यश्रावकाः प्राकृत मनुष्याहारमाहरन्ति कुत एव मांसरुधिराहारमकल्प्यं। धर्माहारा हि महामते मम श्रावकाः प्रत्येकबुद्धा बोधिसत्वाश्च नामिषाहाराः प्रागेव तथागताः। धर्मकाया हि महामते तथागता धर्माहारस्थितयो नामिषकाया न सर्वामिषाहारस्थितयो वान्तसर्वभवोपकरणतृष्णै षणवासना–सर्वक्लेशदोषवासनापगताः सुविमुक्तचित्तप्रज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः सर्वसत्वैक पुत्रक समदर्शिनो महा कारुणिकाः। सोऽहं महामते सर्वसत्वैकपुत्रकसंज्ञी सन् कथमिव स्वपुत्रमांसमनुज्ञास्यामि परिभोक्तुं श्रावकेभ्यः कुत एव स्वयं परिभोक्तुम्। महामते नेदं स्थानं विद्यते।'

हे महामते ! आर्य श्रावकगण (धर्मात्मा व्यक्ति) स्वाभाविक मनुष्य का आहार भी नहीं लेते हैं तब फिर वे असेवन योग्य मांस रुधिर का आहार कैसे लेंगे। हे महामते ! मेरे श्रावक धर्म पर चलने वाले हैं। ऐसे ही प्रत्येक बुद्ध व बोधिसत्व हैं, मांसाहारी नहीं हैं। पहले भी तथागत ऐसे ही थे। हे महामते! तथागत धर्मरूप शरीर धारते हैं उनकी स्थिति धार्मिक आहार से है, उनका शरीर मांसाहारी नहीं है। सर्व प्रकार के मांस को वे नहीं लेते हैं. उन्होंने सर्व संसार की वस्तुओं की तृष्णा की वासना का त्याग कर दिया है,

वे सर्व क्लेशकारी दोष की वासना से दूर हैं। वैराग्यवान व प्रज्ञावान हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। सर्व प्राणियों को एक पुत्रवत् देखने वाले हैं। महा दयावान हैं। हे महामते ! सो ही मैं सर्व प्राणीमात्र पर पुत्र की बुद्धि रखने वाला कैसे अपने ही पुत्र के मांस की आज्ञा दूँगा श्रावकों को खाने के लिये व कैसे स्वयं मांस खाया है। महामते ! इसका कोई स्थान नहीं है।

बुद्ध के वचन और लंकावतार देखने से मालूम पड़ता है कि स्वयं महात्मा बुद्ध ने मांस नहीं खाया और अपने भक्त और साधुओं को भी सर्वथा त्याज्य और हेय बतलाया।

''इहैव च महामते जन्मनि सप्तकुटीरकेऽपि ग्राम प्रचुरमांस लौयादतिप्रसंगेन निषेवमाना मानुषमांसादाघोराडाकावडा-किन्यश्च संजायन्ते। जतिपरिवर्ते च महामते तथैव मांसरक्षाध्य-वसानतया सिंहव्याघ्रद्वीपिवृकतरक्षु मार्जारजंबूकोलूका-दिप्रकुरलांसदयोनिषु विनिपात्यन्ते।''

भावार्थ - इसी जन्म में प्रचुर मांस की लोलुपता से मनुष्य मांस के खाने वाले अघोर डाक डाकिनी हो जाते हैं। फिर मरने पर उसी ही मांस रस के संकल्प के कारण सिंह, बाघ, चीता, कौआ, भेड़िया व विलाव स्यार, उल्लू आदि मांसभक्षी योनियों में पड़ते हैं।

''अनार्यजनजुष्टं दुर्गन्धमकीर्तिकरत्वादपि महामते आर्यजन विवर्जितत्वात्त् मांसमभक्ष्यं बोधिसत्वस्य, ऋषिभोजनाहारी हि महामते आर्यजनो, न मांसरुधिराहार इत्यतोऽपि बोधिसत्वस्य मांसमभक्ष्यं।''

यह मांस दुर्गन्धमय है, अपयश का कारण है, म्लेच्छों द्वारा सेवित है, आर्यजनों के द्वारा वर्जनीय है। ऐसा मांस बौद्धानुयायी के लिये अभक्ष्य है।

आर्यजन ऋषियों के भोजन के समान भोजन करते हैं, मांस-रुधिर का आहार नहीं करते हैं। इसलिये भी बौद्ध को मांस अभक्ष्य है।

"शुक्रशोणितसंभवादपि शुचिकामतामुपादाय बोधिसत्वस्य मांसमभक्ष्यं।" भावार्थ यह मांस वीर्य और रुधिर से उत्पन्न होता है इसलिये पवित्रता के चाहने वाले बौद्ध के लिये मांस अभक्ष्य है।

"उद्वेजनकरत्वादपि महामते भूतानां मैत्रीमिच्छतो योगिनो मांसं सर्वमभक्ष्य बोधिसत्वस्य। तद्यथापि महामते डोम्वचांडाल कैवर्तादीच्छपिशिताशिनः सत्वान् दूरत एवं दृष्ट्वा श्वानः प्रभयंति भयेन मरणप्राप्तश्चैके भवन्त्यस्मानपि मारयिष्यन्तीति, एवमेच महामतेऽन्येपि खभूजलसंश्रितानसूक्ष्म-जन्तवो ये मांसाशिनो दर्शनाद्दूरादेव बटुना प्राणेनाघ्राय गन्धं राक्षसस्येव मानुषादद्रुतमु पसर्पयन्ति मरणसंदेहाश्चैके भवन्ति।"

भावार्थ - यह भय उत्पन्न कराने वाला है इसलिये भी महामते। सर्व प्राणियों के साथ मैत्री चाहने वाले बौद्ध योगी को सर्व मांस अभक्ष्य है। जैसे डोम, चांडाल, मछलीमार, मांसाहारी मानुषों को दूर से ही देखकर कुत्ते डर जाते हैं, भय से मर तक जाते हैं, उनको भय होता है कि ये हमको मारेंगे। इसी तरह महामते। अन्य जो आकाशगामी, पृथ्वीचर, जलचर जीव-जन्तु हैं वे मांसाहारी को दूर से देखकर व अपनी नाक से उनकी गन्ध जानकर राक्षस के समान मनुष्य को जानकर मरण के संदेह से शीघ्र भाग जाते हैं। सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त -

पाणां न हाने च घातवेव्य न चानुर्जज्य हनतं परेसं ।
सव्वेसुभूतेसु निधायदंडं ये थावरा ये चेतसंति लोके ॥

भावार्थ–सर्व प्राणियों पर दया रखके जो लोक में स्थावर जीव हों या त्रस बीद हों उनमें से किसी के प्राण न लेना चाहिये न उनका धात कराना चाहिये, न घात होने की अनुमोदना करना चाहिये।

नोट– उपरोक्त कथन पढ़ने से सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध ने मांस नहीं खाया और अपने शिष्यों को भी मांस खाने का उपदेश भी नहीं दिया तथा मांस खाने में महान् पाप बतलाया, परन्तु धर्मानंद कौसाम्बीने भ. बुद्ध नामक किताब में बुद्ध पर मांस खाने का आरोप किया है। की साम्बी ने एक तरफ बुद्ध को महात्मा भगवान बतलाया है और दूसरी तरफ मांसाहारी बतलाया है। मांसाहारी कभी भी महात्मा नहीं हो सकता। यदि मांसाहारी को महात्मा कहा बावे तो सिंह को भी महात्मा कहने में क्या दोष है?

Sacred book of Budhist Vol. III Rys Davids Digha Nikaya P.II (190) to page v to - At Vesali - he had finished eating the rice.

वैशाली में बुद्ध ने भात का भोजन किया।

Page 133-Now when the exalted one had eaten the rice prepared by Chunda the worker in metals, these fell upon him a dive sickness, the disease of dysentry and sharp pain come upon him, even unto death.

भावार्थ–जब गौतम बुद्ध ने चुंदा सुनार का तैयार किया हुआ भात खा लिया तब उनको पेचिस की भारी बीमारी हो गई जो मरणपर्यंत कष्टदायक रही। महात्मा बुद्ध कहते हैं –

''अनुज्ञातवान्पुनरह पूर्वर्षि प्रणीतभोजनं यदुत शालियवगो घूममुद्गमाषमसूरादिसर्पितैलमधुफाणितगुडखण्ड मत्सपिंडिकादिषु समुपद्यमानं भोजनं कल्प्यमिति कृत्वा ।''

भावार्थ है महामते। मैं यह आज्ञा कर चुका हूँ कि पूर्व ऋषि प्रणीत

चावल, जी, गेहैं, खांड, मिश्री आदि से उत्पन्न भोजन लेना योग्य है। इसको पढ़ने से यह सिद्ध होता है, कि बुद्ध अनुयायी किसी भी गृहस्थ या साधु को मछली का व अन्य कोई पशु का मांस कभी भी नहीं लेना चाहिये।

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को मांस खाने का बिलकुल निषेध किया है जो बौद्ध व्यक्ति त्रिकोटि शुद्ध (अकृत, अकारित, असंकल्पित) मांस खाने के लिये महात्मा बुद्ध की अनुमत्ति बतलाते हैं, वे जनता को धोखा देते हैं। श्री गौतम बुद्ध ने अकृत (स्वयं न बनाया गया), अकारित (दूसरों से न बनवाया गया), असंकल्पित (अपने लिये दूसरों से न बनाये गये) मांस का लेना भी निषिद्ध ठहराया है।

अतः जो बौद्ध मत के अनुयायी भिक्षु भिक्षुणी अथवा गृहस्थ नर–नारी मांस भक्षण करने लग गये हैं, वे अपने आराध्य महात्मा बुद्ध की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं।

हिन्दू–मत

'हिन्दू' शब्द यद्यपि 'सिन्धु' शब्द के अशुद्ध उच्चारण के रूप में प्रचलित हुआ है। सिन्ध नदी बाले देश को (भारत को) अरब निवासी'सिन्धुस्थान' कहते थे।'सिन्धु' भारत के पंजाब तथा सिन्ध प्रान्त में चहने वाली प्रसिद्ध नदी है। पश्चिम की ओर से आने वाले अरब के व्यापारियों को भारत में प्रवेश करते समय सबसे बड़ी नदी 'सिन्धु' ही मिलती है। अतः इस नदी के नाम पर वे इस देश को 'सिन्धुस्थान' कहते थे।

परन्तु अरब के स्त्री–पुरुष 'स' अक्षर को 'ह' बड़ी सरलता से उच्चारण करते हैं। इसी कारण वे 'सप्ताह' को 'हफ्ता' कहते हैं। निम्नलिखित श्लोक से भी यह बात प्रसिद्ध है–

आशीर्वादोपि नो ग्राह्यो, मरुस्थलनिवासिनां।
शतायुरित्युक्ते, हतायुरित्युच्यते ।।

अर्थ–रेगिस्थानी देश में रहने बालों का (अरब में बहुत भारी रेगिस्तान है) आशीर्वाद भी लेना उचित नहीं है। क्योंकि वे यदि आशीर्वाद के रूप में किसी को 'शतायु' (तुम्हारी आयु सौ वर्ष की हो) कहें तो उनके मुख से 'शतायु' की बजाय 'हतायु' निकलता है। 'हतायु' का अर्थ 'मरना' होता है।

यानी – वह आशीर्वाद भी गलत उच्चारण के कारण बुरा श्राप बन जाता है। तुम सौ वर्ष जिओ की बजाय 'तुम मर जाओ' हो जाता है।

इस श्लोक की प्रसिद्धि के अनुसार भी अरब, ईरान आदि के लोग भारत को 'सिन्धुस्थान' कहने की बजाय अपने स्वाभाविक उच्चारण के कारण 'हिन्दुस्थान' कहने लगे। अतः भारत में रहने वाली जनता हिन्दुस्थान शब्द के अनुसार 'हिन्दू' कही जाने लगी।

भारतीय जनता में वैदिक, पौराणिक धर्मानुयायियों की संख्या अधिक रही, अतः 'हिन्दू' शब्द वैदिक या पौराणिक जनता के लिये रूढ़ हो गया।

तब 'हिन्दू' शब्द का स्वच्छ श्रेष्ठ अर्थ प्रगट करने के लिये 'हिन्दू' शब्द के दो टुकड़े करके (हिन्दू हिन्दू) 'हिंसा पाप से दूर रहने वाला' अर्थ किया गया, जो कि बहुत कुछ सार्थक भी है। क्योकि गाय, बकरा आदि पशुओं को छुरी से निर्दयता के साथ कत्ल करने का व्यापार मुसलमान

कसाई ही प्रायः किया करते हैं, यह कार्य हिन्दू लोग नहीं करते।

तथा–चार वर्षों में ब्राह्मण वर्ण सबसे उत्तम माना गया, उसका कारण भी यह रहा कि ब्राह्मण हिंसा, मांस–भक्षण, मदिरापान आदि निन्दनीय पाप कार्य नहीं करते थे, पढ़ना, उपदेश करना, धर्म– कर्म आदि शुभ कार्य करते थे, अब भी अधिकतर ब्राह्मण ऐसा ही करते हैं।

किन्तु प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्य मांस–भक्षण के लोलुपी बन गये। सो अपनी लोलुपता पुष्ट करने के लिये उन्होंने वेद–मन्त्रों का अर्थ गाय, बकरा, घोड़ा आदि पशुओं को छुरी तलवार आदि से काटकर उनके मांस से यज्ञ करने, मांस खाने रूप कर दिया। साधारण अबोध जनता उनके कहने को सत्य समझ कर पशुओं को मार कर यज्ञ करने लगी।

ऐसे पशुओं के होम को उचित ठहराने के लिये मांस–लोलुपी लोगों ने उस हिंसाकृत्य को लोकप्रिय धर्म–कार्य ठहराने के लिये कुछ श्लोक बना दिये। जैसे कि

यज्ञार्थ पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

अर्थ–यज्ञ में हवन करने के लिये ही ब्रह्मा ने गाय, बकरा हिरण आदि पशु उत्पन्न किये हैं।

या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्यात् , वेदाद्धर्मो विनिर्ययी ।।

अर्थ–इस चर–अचर जगत् में जो वेद–मंत्रों के अनुसार हिंसा नियत की गई है, उस हिंसा को पाप न मानकर 'अहिंसा' धर्म ही समझना चाहिये। क्योंकि धर्म वेद से ही प्रगट हुआ है।

ऐसी अनुचित प्रवृत्ति के कारण जैनधर्म ने तथा बौद्धधर्म ने वेदों को

प्रमाण नहीं माना।

आर्य समाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती को वेदों में हिंसा-विधान की बात रुचिकर प्रतीत न हई, अतः उन्होंने चारों वेदों का नया भाष्य किया, हिन्दी भाषा में नया अर्थ किया, उसमें उन्होंने कहीं भी हिंसा का विधान नहीं आने दिया। अस्तु।

वेदों में हिंसा का विधान है या नहीं, वह उचित है या अनुचित ? इस विषय पर हम यहाँ विचार नहीं करते, इस विषय पर विचार निष्पक्ष दूरदर्शी वैदिक विद्वान को करना चाहिये। हमारी धारणा तो यह है कि ' धर्म अहिंसा रूप ही हो सकता है, हिंसा रूप नहीं हो सकता क्योंकि हिंसा वह चाहे मनुष्य की हो या किसी पशु-पक्षी की हो, हिंस्य (जिस जीव को मारा जाता है) प्राणी के लिये महान दुःखदायक है। अनुचित दुःखदायक कार्य धर्म रूप नहीं होता, पाप रूप ही होता है। जैसे चोरी, डकैती आदि।

उपनिषदों पुराणों आदि वैदिक धर्म ग्रन्थों में भी अन्य प्राणी को सताना, मारना, मांस खाना आदि निषिद्ध (छोड़ने योग्य) बतलाया है। यहाँ हम कुछ प्रमाण उन ग्रन्थों के रखते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व अ. 265 में अहिंसा का सुन्दर प्रतिपादन किया है-

अहिंसा सर्वभूतेभ्यो,
धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ।
सुरा मत्स्या मधु मांस,
मासवं कुसरौदनम् ।।

धूर्तै प्रवर्तित ह्येतत् ,
नैतद् वेदेषु कल्पितम् ।। 6 ।।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च,
लौल्यादेतत् प्रकल्पितम् ।।9 ।।
विष्णुमेवाभिजानन्ति,
सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ।
पायसैः सुमनोभिश्च,
तस्यापि यजनं स्मृतम् ।। 11 ।।

प्राणियों की हिंसा न करना ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है। मद्य, मांस, मछली, मधु, आसव और तिल मिले हुए चावलों का भक्षण अभिमान, मोह, लोभ और लोलुपता से धूर्तो के द्वारा प्रचलित किया गया है। यह सब वेदों में नहीं है। ब्राह्मण लोग सब यज्ञों में विष्णुः (व्यापक परमात्मा) को ही जानते हैं (यज्ञों वै विष्णुः यह कहा ही गया है)
महाभारत में यहाँ तक लिखा हः कि-

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषाम् तीर्थयात्रा जपस्तपः ।।
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः ।
तस्य शुद्धिर्न विद्यते चान्द्रायणशतैरपि ।।

यानी - जो मनुष्य शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, रात को भोजन करते हैं, कन्दमूल खाते हैं, उनकी तीर्थयात्रा और जप-तप करना व्यर्थ है।
जो वर्षा के चार महीनों में रात के समय खाते हैं उनकी शुद्धि सैकड़ों चान्द्रायणव्रत करने से भी नहीं होती।

रुद्रपुराण में लिखा है –

सर्वे तनुभृतस्तुल्या यदि बुद्ध्या विचार्यते ।
इदं निश्चित्य केनापि न हिंस्यः कोऽपि कुत्रचित्।

अर्थ – यदि विचार किया जावे तो समस्त जीव एक समान हैं, ऐसा निश्चय करके कोई भी जीव कहीं भी मारना उचित नहीं है।

मनुस्मृति में लिखा है –

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन, यो जायेत शतं समाः ।
मांसानि न च खादेत, तयोः पुण्यफलं समम् ।।5-53 ।।

यानी – जो मनुष्य सैकड़ों वर्ष तक प्रति वर्ष अश्वमेघ यज्ञ करे और जो मनुष्य मांस भक्षण न करे उन दोनों का पुण्यफल एक समान है।

भागवत में लिखा है –

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च, तपोदानानी चानघः ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ।।3-7-13 ।।

अर्थ – समस्त वेदों का पाठ, समस्त यज्ञ, तप और बड़े-बड़े दान जीवरक्षा के एक अंश के बराबर भी नहीं हैं।

महाभारत में देखिये –

अहिंसा लक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्त्तव्या प्राणिनां दया ।।

यानी – धर्म का लक्षण अहिंसा है, जीवों का मारना अधर्म है। इस कारण धर्म के इच्छुक पुरुषों को प्राणियों पर दया करनी चाहिये।

कपिलानां सहस्त्राणि यो द्विजेभ्यः प्रयच्छति ।
एकस्य जीवितं दद्यात् स च तुल्यं युधिष्ठिर ।।

अर्थ – एक मनुष्य जो कि ब्राह्मणों को हजारों गाय दान करता है और एक पुरुष जो कि किसी का जीवन बचाता है, हे युधिष्ठिर ! वह उस हजारों गाय दान करने वाले के बराबर है। यानी– एक जीव की रक्षा हजारों गायों के दान करने के बराबर है।

गरुड़ पुराण में लिखा है –

अहिंसा परमो धर्मः, पापमात्मप्रपीडनम् ।

अर्थ – अहिंसा परम धर्म है और जीवों को सताना परम पाप है।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है –

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परिपीडनम् ।।

यानी – व्यास ऋषि – रचित 18 पुराणों का सार दो बातों में है – 1. अन्य जीव का उपकार करना पुण्य है और 2. अन्य जीव को दुःख देना पाप है।

विष्णु पुराण में लिखा है –

अल्पायुषो दरिद्राश्च, परकर्मोपजीविनः ।
दुष्कुलेषु प्रजायन्ते ये नरा मांसभक्षकाः । ।

अर्थ – जो मनुष्य मांस खाते हैं वे अल्पायु (छोटी उम्र वाले) दीन, दरिद्र, दास होते हैं तथा नीच कुलों में जन्म लेते हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा है है–

स्वमांसं परमांसेन, यो वर्द्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्मस्मात्, स नृशंसतरो नरः ॥ अ. 116 ॥

यानी – जो मनुष्य अन्य जीव का मांस खाकर अपने शरीर का मांस बढ़ान चाहता है, वह मनुष्य बहुत नीच पुरुष है उससे नीच और कोई नहीं है।

दुर्गा देवी शिव जी को कहती है–

मदर्थं शिव कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम् ।
आकल्पकोटिं नरके तेषां वासो न संशयः ।।

अर्थात् – हे शिव ! जो तामसी प्रकृति के दुष्ट मनुष्य मेरे लिये जीवों को मारते हैं, वे करोड़ों कल्पकाल तक नरक में रहते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

महाभारत में लिखा है –

ये रात्रौ सर्वदाहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य मासमेकेन जायते।।

अर्थ–जो मनुष्य सदा रात में भोजन नहीं करते उनके एक मास में 15 उपवास हो जाते हैं। यानी उनकी आयु का आधा समय उपवास करने के समान व्यतीत होता है।

इत्यादि अनेक पौराणिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म में मांस–भक्षण तथा जीवों का वध करना निषिद्ध ठहराया गया है। अतः किसी भी हिन्दू को देवी–देवताओं के लिये पशु–पक्षियों का बलिदान तथा पशु यज्ञ कभी नहीं करना चाहिये, न मांस खाना चाहिये।

जैनधर्म

जैनधर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है तथा हिंसा, अहिंसा का बहुत विस्तार से और सूक्ष्मता से विवेचन किया है। जीवों की जातियाँ उनके विभिन्न वर्ग, उनकी प्राण–संख्या आदि का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

अहिंसा तथा हिंसा का विवेचन करते हुए जैन आचार्यों ने लिखा है –

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषाभावोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

यानी अपने शुद्ध परिणामों के घातक तथा हिंसा के कारणभूत राग-द्वेष, क्रोध आदि विचारों का हृदय में उत्पन्न न होना 'अहिंसा' है और उन घातक विचारों का हृदय में उत्पन्न होना 'हिंसा' है।

अर्थात अपनी या अन्य जीव की हिंसा करने की मन में भावना आते ही हिंसा पाप हो जाता है। इसी हिंसा भावना का दूसरा नाम भाव-हिंसा है। भाव हिंसा के फल-स्वरूप आत्महत्या करना, अपने को आहत (घायल) करना या अन्य जीव को मारना अथवा किसी प्रकार का कष्ट देना द्रव्य हिंसा है।

हिंसा चार प्रयोजनों से होती है 1. शिकार आदि खेलने के संकल्प से (संकल्पी हिंसा), 2. धर्मरक्षा, दीन रक्षा, स्त्री रक्षा या आत्मरक्षा के लिये आततायी, गुण्डे, चोर, डाकू, बदमाश अथवा शत्रु (बैरी) से सामना करते हुए, लड़ते हुए (विरोधी हिंसा), 3. खेती, व्यापार, उद्योग-धन्धे करने में जीवघात होना (उद्योगी हिंसा) और 4. घर के काम-काज करने में बुहारी लगाना, रसोई बनाना, आटा पीसना, मसाला कूटना, नहाना-धोना आदि कार्यों में कीड़े-मकोड़े आदि की हिंसा (आरम्भी हिंसा) होती है।

इन चारों प्रकार की हिंसाओं में से पहली संकल्पी हिंसा निर्दय क्रूर परिणामों से की जाती है, शेष तीनों हिंसाएँ गृहस्थाश्रम में लाचारी से हुआ करती हैं। जैन गृहस्थ संकल्पी हिंसा नहीं करता। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं को भी कम-से-कम करने का यत्न करता है। जैन मुनि चारों

प्रकार की हिंसा से दूर रहते हैं।

मांस खाने का त्याग प्रत्येक जैन को अवश्य होता है। हिंसा से बचने के विचार से ही जैनी जल को कपड़े से छानकर पीते हैं क्योंकि जल में असंख्य सूक्षम कीटाणु होते हैं, जो कि खुर्दबीन से ही दिख सकते हैं। कपड़े से छानकर जल पीने से उनकी रक्षा की जाती है।

रात्रि को भोजन करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होनी संभव है, इस कारण जैन जन रात्रि में भोजन नहीं करते।

मांस में पोषक तत्व

मांसभक्षी मनुष्य यह समझते हैं कि मांस खाने के शरीर में अन्न, फल, दूध, दही आदि की अपेक्षा अधिक शक्ति आती है, सो यह भी भ्रम है। वैज्ञानिक ढंग से जाँच करने पर अन्न, फल, मांस आदि पदार्थों में जो शक्ति उत्पन्न करने वाले पोषक अंश हैं वे निम्नलिखित हैं –

बादाम में –	91 प्रतिशत के अंश	
सूखे चने मटर में	87	,,
चावल में	87	,,
गेहूँ के आटे में	86	,,
जौ के आटे में	84	,,
दाख आदि मेवा में	73	,,
घी में	87	,,
मलाई में	69	,,

दूध में 14 ''

दूध में 86 प्रतिशत जो पानी होता है वह भी शरीर के लिये लाभदायक होता है।

अंगूर आदि फलों में फलों का जलीय अंश भी लाभकारक होता है।

मांस में मांस का जल अंश शरीर के लिये हानिकारक होता है।

मछली में 28 ''

इस वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार मांस में सूखा चना, मटर, चावल, गेहूँ, जौ, घी, मलाई, बादाम, किशमिश आदि से बहुत कम शरीर पोषक शक्ति के अंश हैं। अतः साधारण व्यक्ति घी, चना, मटर खाकर मांसभक्षी की अपेक्षा अधिक बलवान बन सकता है।

घास-पत्ती खाने वाले बैल, भैंस, हाथी, गेंडा आदि की अपेक्षा मांसभक्षी सिंह में बल अधिक नहीं होता, उसमें क्रूरता और चपलता अधिक होती है। इसी कारण स्फूर्ति से झपट कर दूसरे पशुओं को मार डालता है। भारी बोझ उठाना, भारी बोझ खींचना आदि बल-परीक्षण के कार्यों में सिंह बैल, घोड़ा, भैंसा आदि की बराबरी नहीं कर सकता। खूनी हाथी की पकड़ में जब सिंह आ जाता है तब हाथी उसे अपने एक पैर से पिचल कर या सूंड में पकड़ जमीन पर पटक कर क्षणभर में मार डालता है। द्वन्द्व युद्ध में सुअर भी सिंह को पीछे हटा देता है।

इससे मांस खाने से अधिक बलवान होने की मान्यता गलत है।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि ''अहिंसा आचरण करने से मनुष्य का हृदय कोमल हो जाता है, अतः वह देश, जाति, धर्म आदि की रक्षा करने के लिये वीर योद्धा (लड़ाकू) नहीं बन सकता। जैनों के अहिंसा-प्रचार के

कारण भारत देश अपनी स्वतंत्रता खोकर लगभग 800 वर्ष तक परतन्त्र बना रहा।''

उन लोगों की यह मान्यता गलत है। अहिंसा मनुष्य को दीन, हीन, निर्बल, प्राणी के लिये दयालु तो अवश्य बनाती है किन्तु कायर नहीं बनाती। गृहस्थ का अहिंसा व्रत अन्यायी, अत्याचारी आक्रान्ता (हमलावर) के साथ युद्ध करने से नहीं रोकता। स्वरक्षा, स्व-देश, स्व-धर्म, दीन निर्बल की रक्षा के लिये अहिंसाव्रती गृहस्थ को यदि युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करता है।

भारत के शासक अहिंसाव्रती जैन वीर राजाओं ने भारत की स्वतंत्रता सुरक्षित रक्खी, उन्होने विदेशी आक्रान्ताओं को मार भगाया। अतः अहिंसा के कारण भारत पर विदेशी राज्य नहीं जमा। भारत की परतन्त्रता का मूल कारण रायपिथौरा पृथ्वीराज चौहान की राजनैतिक गलती और राजा जयचन्द्र का शत्रु से जा मिलना था।

हम यहाँ कुछ अहिंसक राजाओं का परिचय देते हैं।

सम्राट-चन्द्रगुप्त

विदेशी आक्रमणकारियों से भारत को स्वतन्त्र, सुरक्षित रखने वाला सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी शाकाहारी था। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाह का शिष्य था। अपने अन्तिम जीवन में राज पाट त्यागकर आ. भद्रबाहु से मुनिदीक्षा लेकर वह महाव्रती साधु बना था। उनके साथ दक्षिण भारत गया था और श्रवणबेलगोला में पहाड़ी पर उसका समाधिमरण हुआ। उसके नाम पर ही उस पहाड़ी का नाम ''चन्द्रगिरि''

प्रसिद्ध हुआ उस पहाड़ी पर भद्रबाहु व चन्द्रगुप्त के विषय में अनेक शिलालेख पाये जाते हैं। उसी अहिंसा-प्रेमी चन्द्रगुप्त ने सम्म्राट सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस को युद्ध में हराकर भारत से पीछे हटा दिया और उससे काबुल कन्धार (गांधार) का प्रदेश छीन कर अपने भारतीय राज्य में मिला लिया।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र (पोता) सम्राट अशोक भी महान् पराक्रमी शूरवीर तथा अहिंसा धर्म-पालक दयालु शासक हुआ है। यह 29 वर्ष तक जैनधर्मानुयायी रहा, तत्पश्चात् बौद्ध हो गया था। इतिहासवेत्ता अबुलफजल लिखित 'आइने अकबरी' में लिखा है कि 'अशोक ने काश्मीर में जैनधर्म का प्रचार किया।'

सम्राट अशोक के स्तम्भों में जैन तीर्थकरों के चिह्न अंकित हैं। धर्मचक्र में 24 आरे तीर्थंकरों की 24 संख्या के प्रतीक हैं। चतुर्मुखी सिंह भगवान महावीर का चिह्न है। बैल, हाथी और घोड़ा क्रमशः भगवान ऋषभनाथ, अजितनाथ और संभवनाध (पहले, दूसरे, तीसरे) तीर्थंकर के चरणचिह्न हैं।

इसी प्रकार जैन सम्राट कलिंग चक्रवर्ती ऐल खारवेल भी बहुत वीर योद्धा हुआ है जिसने प्रायः समस्त भारत को अपने अधीन करके निष्कण्टक राज्य किया। महान योद्धा सिपहसालार दाउदखों को युद्ध में पददलित करके हराने वाला, अवध की स्वतंत्रता सुरक्षित रखने वाला श्रावस्ती नरेश 'सुहेलदेव' जैन था, अहिंसक निरामिष भोजी था।

28 युद्धों का विजेता, समरधुरन्धर वीर केसरी आदि पदों से सम्मानित वीर चामुण्डराय भी प्रसिद्ध धार्मिक अहिंसा-प्रेमी जैन था जिसने

श्रवणबेलगोला में जगत के आठवें आश्चर्य स्वरूप 57 फीट ऊँची गोम्मटेश्वर बाहुबली स्वामी की मूर्ति का निर्माण कराया।

इसी तरह अन्य अनेक वीर राजा, सेनापति आदि इतिहास- प्रसिद्ध हैं, जो जैन थे, निरामिष भोजी अहिंसक थे, किन्तु अच्छे बुद्धवीर थे।

उपसंहार

भरत क्षेत्र में जब कर्मयुग (कर्मभूमि) का प्रारम्भ हुआ, तब भगवान ऋषभनाथ युगप्रधान जननायक हुए। उन्होंने गृहस्थ अवस्था में जनता को तथा अपने पुत्र-पुत्रियों को खेती-बाड़ी करना, वस्त्र, बर्तन, मकान बनाना आदि कलाएँ, व्यापार, पशुपालन, अस्त्र- शस्त्र चलाना, मल्लयुद्ध, युद्ध नीति, राजनीति पढ़ना-लिखना आदि सिखलाबा।

जब उन्होंने गृहस्थाश्रम त्यागकर साधुदीक्षा ली तब मौन भाव से तपस्या की और पूर्ण आत्मशुद्धि करके वीतराग, सर्वज्ञ, कैवल्य, जीवनमुक्त पद प्राप्त किया, आध्यात्मिक शत्रु काम, मद, क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि पर विजय पाने से उनका नाम 'जिन' प्रसिद्ध हुआ, अतः उनका प्रचारित धर्म 'जैनधर्म' कहलाया। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती सम्राट हुआ उसके नाम पर इस देश का नाम 'भारत' विख्यात हुआ।

भारत के आदि-शिक्षक, आदि-योगी, आदि धर्म- प्रचारक भगवान ऋषभनाथ हुए हैं। उनका प्रचारित 'जैन धर्म' समस्त धर्मों से प्राचीन है।

प्राकृत भाषा सब भाषाओं से प्राचीन है। उसका संस्कार करके संस्कृत भाषा उत्पन्न हुई। प्राकृत भाषा से ही अपभ्रंश भाषा का उद्गम हुआ। अपभ्रंश भाषा से हिन्दी भाषा का निर्माण हुआ। प्राचीन हिन्दी ही खड़ी

हिन्दी भाषा के रूप में परिणत हुई। हिन्दी में संस्कृत शब्द भी प्रचुरता से लिये गये हैं।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल भाषाओं में जैन विद्वानों ने महान साहित्य निर्माण किया है।

संसार के सबसे बड़े साहित्यकार श्री वीरसेन आचार्य हुए हैं, उन्होने लगभग पौने दो लाख श्लोक प्रमाण धवल, जयधवल, महाधवल नामक सैद्धान्तिक व्याख्या ग्रन्थों का प्राकृत तथा संस्कृत भाषा में निर्माण किया है।

पदार्थ विचार तथा यथार्थ तात्विक निर्माण स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं वह अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती है।

अतः बुद्धि-विकास, यथार्थनिर्णय, पारस्परिक विवाद- निवारण के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त परम उपयोगी है। अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद स्याद्वाद के ही नामान्तर हैं।

विश्व का सर्वसम्मत, विश्व हितकारी धर्म 'अहिंसा' है। 'विश्वधर्म की रूप-रेखा' अहिंसामयी है। मनुष्य जिस तरह अपनी हिंसा नहीं चाहता, उसी तरह अन्य प्राणी भी अपनी हिंसा नहीं चाहते अतः किसी को मत सताओ।

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन दूध, अन्न, फल, मेवा है, यानी मनुष्य शाकाहारी (वेजीटेरियन) है, मांसाहारी नहीं है।

शुभमस्तु सर्वजगतः ।

संदर्भ ग्रंथ सूचि

1. जैन ग्रंथ

- पुरुषार्थ सिद्धिउपाय
- षट्खण्डागम
- हरिवंश पुराण
- दर्शन पाहुड
- रत्नकरण्डक श्रावकाचार
- तत्त्वार्थ सूत्र
- नियमसार
- भावना द्वात्रिंशतिका
- मोक्षपाहुड
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा
- यशस्तिलक चम्पू
- ज्ञानोदय
- अरिष्टनेमि
- दर्शनसार

1. अन्य ग्रंथ

- शिव पुराण
- भागवत पुराण
- अग्निपुराण
- सामवेद
- ऋग्वेद
- अथर्ववेद
- यजुर्वेद
- हठयोग प्रदीपिका
- सुंदरकांड
- महाभारत
- तेजोविंदु उपनिषद
- वायुपुराण
- ब्रह्माण्ड पुराण
- भागवत पुराण
- मनुस्मृति
- मार्कण्डेय पुराण
- विष्णु पुराण
- गरुड़पुराण
- राजवंश ग्रंथ
- भगवान बुद्ध
- इंडियन फिलासफी
- मज्झिमनिकाय
- न्याय बिंदु
- हिंदु विश्वकोष
- रामायण
- लंकावतार सूत्र
- रुद्रपुराण